दंसणमूलो धम्मो

आत्मधर्म

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) का मुखपत्र

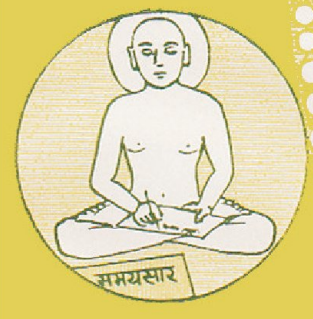

शीलबाड़ि नौ राख, ब्रह्मभाव अंतर लखो।
करि दोनों अभिलाख, करहु सफल नरभव सदा॥

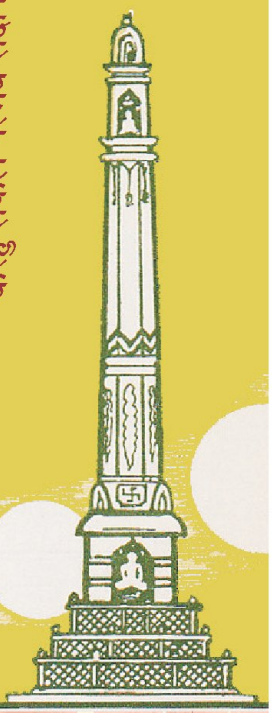

सम्पादक : डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल
कार्यालय : टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

वर्ष ३४ : अंक ३ [३९९] सितम्बर १९७८

आत्मधर्म [३९९]

[हिन्दी, गुजराती, मराठी तथा कन्नड़ — इन चार भाषाओं में प्रकाशित
जैन समाज का सर्वाधिक बिक्रीवाला आध्यात्मिक मासिक]

संपादक :
डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

प्रबंध संपादक :
अखिल बंसल

कार्यालय :
श्री टोडरमल स्मारक भवन
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (भावनगर-गुजरात)

शुल्क :
आजीवन : १०१ रुपये
वार्षिक : ६ रुपये
एक प्रति : ५० पैसे

मुद्रक :
सोहनलाल जैन
जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर

क्या

१ किस विधि किये करम चकचूर
२ जीवन ही बदल डाला
३ संपादकीय : उत्तम ब्रह्मचर्य
४ पस्सदि जिणसासणं सव्वं
[समयसार प्रवचन]
५ लोयविभागेसुणादव्वं
[नियमसार प्रवचन]
६ द्रव्यसंग्रह प्रवचन
७ ज्ञान-गोष्ठी
८ समाचार दर्शन
९ पाठकों के पत्र
१० प्रबंध संपादक की कलम से

क्षमावाणी के पावन अवसर पर, अज्ञान व प्रमादवश हुए ज्ञात व अज्ञात अपराधों के लिये आत्मधर्म परिवार क्षमाप्रार्थी है।

– संपादक

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का, आत्म शान्ति का, प्रगट करे जो मर्म।
समयसार का सार, सभी को प्रिय, यह आतम धर्म॥

वर्ष : ३४ [३९९] अंक : ३

किसी विधि किये करम चकचूर, थांकी उत्तम क्षमापै
अचंभो म्हाने आवैजी॥टेर॥
एक तो प्रभु तुम परम दिगम्बर, पास न तिलतुष मात्र हजूर।
दूजे जीव दया के सागर, तीजै संतौषी भरपूर।
किस विधि किये करम चकचूर... ॥१॥
चौथे प्रभु तुम हित उपदेशी, तारण-तरण जगत मशहूर।
कोमल वचन सरल सम वक्ता, निर्लोभी संजम तप शूर॥
किस विधि किये करम चकचूर... ॥२॥
कैसे ज्ञानावरण निवार्‌यो, कैसे गेर्‌यो अदर्शन चूर।
कैसे मोहमल्ल तुम जीते, कैसे किये च्यारौं घातिया दूर॥
किस विधि किये करम चकचूर... ॥३॥
त्याग उपाधि हो तुम साहिब, आकिंचन व्रतधारी मूल।
दोष अठारह दूषण तजके, कैसे जीते काम क्रूर॥
किस विधि किये करम चकचूर... ॥४॥
कैसे केवलज्ञान उपायो, अंतराय कैसे कियो निर्मूल।
सुर नर मुनि सेवैं चरण तिहारे, तो भी नहीं प्रभु तुमको गरूर॥
किस विधि किये करम चकचूर... ॥५॥
करत दास अरदास 'नैनसुख', ये ही बर दीजे मोहे दान जरूर।
जन्म-जन्म पद पंकज सेऊं, और नहीं कछु चाहूं हजूर॥
किस विधि किये करम चकचूर... ॥६॥

[नोट : **किस विधि किये करम चकचूर...?** इसके उत्तररूप भजन आगामी अंक में देखिये।]

जीवन ही बदल डाला

[इस स्तंभ में उन आत्मार्थियों के महत्त्वपूर्ण पत्र प्रकाशित किये जायेंगे, जिनके जीवन में आध्यात्मिक रुचि आत्मधर्म के माध्यम से जगी है।]

मैं सन् १९२९ से जैनपत्रों को पढ़ने का रागी रहा हूँ। किंतु इन पत्रों में संसार बढ़ाने के सिवाय मुझे कुछ नहीं मिला।

आत्मधर्म ने मेरे जीवन को स्वरूपाचरण की जानकारी प्राप्त करने की ओर मोड़ दिया है। इसने मुझे अपने-आपको देखने व जानने की प्रेरणा दी है।

मेरी अभिलाषा है कि यह पत्र अजैन भाईयों के पास भी पहुँचाने का प्रयत्न करना चाहिए। इतना ही नहीं, बल्कि इसका अन्य भाषाओं में भी अनुवाद होकर प्रकाशन होना चाहिए, जिससे विदेशी जिज्ञासुओं तक जैनधर्म का मर्म पहुँचे। इससे लोगों में व्याप्त जैनधर्म के प्रति गलत धारणाएँ स्वतः समाप्त हो जाऐंगी और तत्त्व का प्रचार होगा।

आत्मधर्म में पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों के अतिरिक्त दशलक्षण धर्म का तर्कपूर्ण विश्लेषण, इंटरव्यू आदि प्रकाशित करके आपने अनुपम कार्य किया है।

मेरी प्रार्थना है कि इसे शीघ्र पाक्षिक किया जाये।

— सूरजमल पाटनी, जयपुर (राज०)

[**नोट :** वर्तमान में आत्मधर्म हिन्दी भाषा के अतिरिक्त गुजराती, मराठी, तामिल तथा कन्नड़ भाषाओं में प्रकाशित हो रहा है।] - **प्रबंध संपादक**

सम्पादकीय

उत्तम आकिंचन | एक परिशीलन

ब्रह्म अर्थात् निजशुद्धात्मा में चरना, रमना ही ब्रह्मचर्य है। जैसा कि 'अनगार धर्मामृत' में कहा है:—

या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धे चर्या परद्रव्यमुचप्रवृत्तिः।
तद् ब्रह्मचर्य व्रतसार्वभौमं ये पान्ति ते यान्ति परं प्रमोदम्॥४/६०॥

परद्रव्यों से रहित शुद्ध-बुद्ध अपने आत्मा में जो चर्या अर्थात् लीनता होती है, उसे ही ब्रह्मचर्य कहते हैं। व्रतों में सर्वश्रेष्ठ इस ब्रह्मचर्य व्रत का जो पालन करते हैं, वे अतीन्द्रिय आनंद को प्राप्त करते हैं।

इसीप्रकार का भाव 'भगवती आराधना'[१] एवं 'पद्मनंदिपंचविंशतिका'[२] में भी प्रकट किया है।

यद्यपि निजात्मा में लीनता ही ब्रह्मचर्य है; तथापि जब तक हम अपने आत्मा को जानेंगे नहीं, मानेंगे नहीं, तब तक उसमें लीनता कैसे संभव है? इसलिए कहा गया है कि आत्मलीनता अर्थात् सम्यक्चारित्र आत्मज्ञान एवं आत्मश्रद्धानपूर्वक ही होता है। ब्रह्मचर्य के साथ लगा उत्तम शब्द भी यही ज्ञान कराता है कि सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान सहित आत्मलीनता ही उत्तम ब्रह्मचर्य है।

---

१. जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरियाहविज्ज जा जणिदो।
तं जाण बंभचेर विमुक्कापरदेहतित्तिस्स॥८७८॥
जीव ब्रह्म है, देह की सेवा से विरक्त होकर जीव में ही जो चर्या होती है, उसे ब्रह्मचर्य जानो।

२. आत्मा ब्रह्म विविक्तबोधनिलयो यत्तत्र चर्यं पर।
स्वांगासंगविवर्जितैकमनसस्तद्ब्रह्मचर्यं मुनेः॥
ब्रह्म शब्द का अर्थ निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा है। उस आत्मा में लीन होने का नाम ब्रह्मचर्य है। जिस मुनि का मन अपने शरीर से निर्ममत्व हो गया, उसी के वास्तविक ब्रह्मचर्य होता है।

अत: यह स्पष्ट है कि निश्चय से ज्ञानानंदस्वभावी निजात्मा को ही निज मानना, जानना और उसी में जम जाना, रम जाना, समा जाना, लीन हो जाना ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है।

आज जो ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ समझा जाता है वह अत्यंत स्थूल है। आज मात्र स्पर्शन इंद्रिय के विषय-सेवन के त्यागरूप व्यवहार ब्रह्मचर्य को ही ब्रह्मचर्य माना जाता है। स्पर्शन इंद्रिय के भी संपूर्ण विषयों के त्याग को नहीं, मात्र एक क्रियाविशेष (मैथुन) के त्याग को ही ब्रह्मचर्य कहा जाता है, जबकि स्पर्शन इंद्रिय का भोग तो अनेक प्रकार से संभव है।

स्पर्शन इंद्रिय के विषय आठ हैं—

१. ठंडा, २. गरम, ३. कड़ा, ४. नरम, ५. सूखा, ६. चिकना, ७. हल्का, ८. भारी।

इन आठों ही विषयों में आनंद अनुभव करना स्पर्शन इंद्रिय के विषयों का ही सेवन है। गर्मियों के दिनों में कूलर एवं सर्दियों में हीटर का आनन्द लेना स्पर्शन इंद्रिय का ही भोग है। इसी प्रकार डनलप के नरम गद्दों और कठोर आसनों के प्रयोग में आनंद अनुभव करना तथा रूखे-चिकने व हल्के-भारी स्पर्शों में सुखानुभूति—यह सब स्पर्शन-इंद्रिय के विषय हैं। पर अपने को ब्रह्मचारी माननेवालों ने कभी इस ओर भी ध्यान दिया है कि ये सब स्पर्शन इंद्रिय के विषय हैं, हमें इनमें भी सुखबुद्धि त्यागनी होगी, इनसे भी विरत होना चाहिये।

इससे यह सिद्ध होता है कि हम स्पर्शन इंद्रिय के भी संपूर्ण भोग को ब्रह्मचर्य का घातक नहीं मानते, अपितु एक क्रियाविशेष (मैथुन) को ही ब्रह्मचर्य का घातक मानते हैं; और जैसे-तैसे मात्र उससे बचकर अपने को ब्रह्मचारी मान लेते हैं।

यदि आत्मलीनता का नाम ब्रह्मचर्य है तो क्या स्पर्शन इंद्रिय के विषय ही आत्मलीनता में बाधक हैं, अन्य चार इंद्रियों के विषय क्या आत्मलीनता में बाधक नहीं हैं? यदि हैं तो उनके भी त्याग को ब्रह्मचर्य कहा जाना चाहिये। क्या रसना इंद्रिय के स्वाद लेते समय आत्मस्वाद लिया जा सकता है? इसीप्रकार क्या सिनेमा देखते समय आत्मा देख जा सकता है? नहीं, कदापि नहीं।

आत्मा किसी भी इंद्रिय के विषय में क्यों न उलझा हो, उस समय आत्मलीनता संभव नहीं है। जब तक पाँचों इंद्रियों के विषयों से प्रवृत्ति नहीं रुकेगी, तब तक आत्मलीनता नहीं होगी और जब तक आत्मलीनता नहीं होगी तब तक पंचेन्द्रियों के विषयों से प्रवृत्ति का रुकना भी संभव नहीं है।

इसप्रकार पंचेन्द्रिय के विषयों से प्रवृत्ति की निवृत्ति यदि नास्ति से ब्रह्मचर्य है तो आत्मलीनता अस्ति से।

यदि कोई कहे कि शास्त्रों में भी तो कामभोग के त्याग को ही ब्रह्मचर्य लिखा है। हम भी ऐसा ही मानते हैं, इसमें हमारी भूल क्या है ?

सुनो! शास्त्रों में कामभोग के त्याग को ब्रह्मचर्य कहा है, सो ठीक ही कहा है। पर कामभोग का अर्थ स्पर्शन इंद्रिय का ही भोग लेना–यह कहाँ कहा ? समयसार की चौथी गाथा की टीका करते हुए आचार्य जयसेन ने स्पर्शन और रसनाइंद्रियों के विषयों को माना है काम, और घ्राण, चक्षु, कर्ण इंद्रिय के विषयों को माना है भोग। इसप्रकार उन्होंने काम और भोग में पंचेन्द्रिय विषयों को ले लिया है। पर हम इस अर्थ को कहाँ मानते हैं। हमने तो काम और भोग को एकार्थवाची मान लिया है और उसका भी अर्थ एक क्रियाविशेष (मैथुन) से संबंधित कर दिया है। मात्र एक क्रियाविशेष को छोड़कर पाँचों इंद्रियों के विषयों को भरपूर भोगते हुए भी अपने को ब्रह्मचारी मान बैठे हैं।

जब आचार्यों ने काम और भोग के विरुद्ध अवाज लगायी तो उनका आशय पाँचों इंद्रियों के विषयों के त्याग से था, न कि मात्र मैथुनक्रिया के त्याग से। अज भी जब किसी को ब्रह्मचर्यव्रत दिया जाता है तो साथ में पाँचों पापों से निवृत्ति करायी जाती है; सादा खान–पान, सादा रहन–सहन रखने की प्रेरणा दी जाती है; सर्वप्रकार के शृंगारों का त्याग कराया जाता है। अभक्ष्य एवं गरिष्ठ भोजन का त्याग आदि बातें पंचेन्द्रियों के विषयों में त्याग की ओर ही संकेत करती हैं।

यदि हम पंचेन्द्रियों के विषयों में निर्बाध प्रवृत्ति करते रहें और मात्र स्त्री–संसर्ग का त्याग कर अपने को ब्रह्मचारी मान बैठें तो यह एक भ्रम ही है। तथा यदि स्त्री–संसर्ग के साथ–साथ पंचेन्द्रियों के विषयों को भी बाह्य से छोड़ दें, गरिष्ठादि भोजन भी न करें; फिर भी यदि आत्मलीनतारूप ब्रह्मचर्य अंतर में प्रकट नहीं हुआ तो भी हम सच्चे ब्रह्मचारी नहीं हो पावेंगे। अत: आत्मलीनतापूर्वक पंचेन्द्रिय के विषयों का त्याग ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है।

यद्यपि शास्त्रों में आचार्यों ने भी ब्रह्मचर्य की चर्चा करते हुए स्पर्शन इंद्रिय के विषय–त्याग पर ही अधिक बल दिया है, कहीं–कहीं तो रसनादि इंद्रियों के विषयों के त्याग की चर्चा तक नहीं की है; तथापि उसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उन्होंने रसनादि चार इंद्रियों के विषयों

के सेवन को ब्रह्मचर्य का घातक नहीं माना, उनके सेवन की छूट दे रखी है। जब वे स्पर्शन इंद्रिय को जीतने की बात करते हैं तो उनका आशय पाँचों इंद्रियों के विषयों के त्याग से ही रहता है, क्योंकि स्पर्शन में पाँचों इंद्रियाँ गर्भित हैं। आखिर नाक, कान, आँखें शरीररूप स्पर्शनेन्द्रिय के ही तो अंग हैं। स्पर्शन इंद्रिय सारा ही शरीर है, जबकि शेष चार इंद्रियाँ उसके ही अंश (Parts) हैं। स्पर्शन इंद्रिय व्यापक है, शेष चार इंद्रियाँ व्याप्य हैं।

जैसे भारत कहने में राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, महाराष्ट्र आदि सारे प्रदेश आ जाते हैं, पर राजस्थान कहने में पूरा भारत नहीं आता; उसीप्रकार शरीर कहने में आँख, कान, नाक आ जाते हैं, आँख-कान कहने में पूरा शरीर नहीं आता।

इसप्रकार स्पर्शन-इंद्रिय का क्षेत्र विस्तृत और अन्य इंद्रियों का संकुचित है।

जिसप्रकार भारत को जीत लेने पर सभी प्रांत जीत लिये गये—ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं, पर राजस्थान को जीतने पर सारा भारत जीत लिया—ऐस नहीं माना जा सकता है; इसीप्रकार स्पर्शन-इंद्रिय को जीत लेने पर सभी इंद्रियाँ जीत ली जाती हैं, पर रसनादि के जीतने पर स्पर्शन-इंद्रिय जीत ली गयी-ऐसा नहीं माना जा सकता।

अत: यह कहना अनुचित नहीं कि स्पर्शन इंद्रिय को जीतनेवाला ब्रह्मचारी है, पर उक्त कथन का आशय पंचेन्द्रियों को जीतने से ही है।

यदि कर्ण-इंद्रिय के विषयसेवन के अभाव को ब्रह्मचर्य कहते तो फिर चार-इंद्रिय जीवों को ब्रह्मचारी मानना पड़ता क्योंकि उनके कर्ण है ही नहीं, तो कर्ण के विषय का सेवन कैसे संभव है ? इसीप्रकार चक्षु-इंद्रिय के विषयसेवन के अभाव को ब्रह्मचर्य कहने पर तीन-इंद्रिय जीवों को, घ्राण के विषयाभाव को ब्रह्मचर्य कहने पर दो-इंद्रिय जीवों को, रसना के विषयाभाव को ब्रह्मचर्य कहने पर एकेन्द्रिय जीवों को ब्रह्मचारी मानने का प्रमाण प्राप्त होता है; क्योंकि उनके उक्त इंद्रियों का अभाव होने से उनका विषयसेवन संभव नहीं है।

इसी क्रम में यदि कहा जाए कि इसप्रकार तो फिर यदि स्पर्शन-इंद्रिय के विषयसेवन के अभाव को ब्रह्मचर्य मानने पर स्पर्शन-इंद्रियरहित जीवों को ब्रह्मचारी मानना होगा-तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि स्पर्शन-इंद्रिय से रहित सिद्ध भगवान ही हैं और वे पूर्ण ब्रह्मचारी हैं ही। संसारी जीवों में तो कोई ऐसा है नहीं, जो स्पर्शन-इंद्रिय से रहित हो।

इसप्रकार स्पर्शन-इंद्रिय के विषयत्याग को ब्रह्मचर्य कहने में कोई दोष नहीं आता।

इसीप्रकार मात्र क्रियाविशेष (मैथुन) के अभाव को ही बह्मचर्य मानें तो फिर पृथ्वी जलकायादि जीवों को भी ब्रह्मचर्य मानना होगा, क्योंकि उनके मैथुनक्रिया देखने में नहीं आती।

यदि आप कहें कि एकेन्द्रियादि जीवों को ब्रह्मचारी मानने में क्या आपत्ति है ?

यही कि उनके आत्मरमणतारूप निश्चयब्रह्मचर्य नहीं है, आत्मरमणतारूप ब्रह्मचर्य सैनी पंचेन्द्रिय के ही होता है; तथा एकेन्द्रियादि जीवों के मोक्ष भी मानना पड़ता, क्योंकि ब्रह्मचर्यधर्म को पूर्णत: धारण करनेवाले मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करते ही हैं। कहा भी है—

'द्यानत धर्म दश पैंड चढ़िके, शिवमहल में पग धरा।'

द्यानतरायजी कहते हैं कि दशधर्मरूपी पेड़ियों (सीढ़ियों) पर चढ़कर शिवमहल में पहुँचते हैं। दशधर्मरूपी सीढ़ियों में दसवीं सीढ़ी है ब्रह्मचर्य, उसके बाद तो मोक्ष ही है।

चार इंद्रियाँ हैं खंड-खंड, और स्पर्शन इंद्रिय है अखंड; क्योंकि आत्मा के प्रदेशों का आकार एवं स्पर्शन-इंद्रिय का आकार बराबर एवं एक-सा है, जबकि अन्य इंद्रियों के साथ ऐसा नहीं है। अखंड पद की प्राप्ति के लिये अखंड इंद्रिय को जीतना आवश्यक है।

जितने क्षेत्र का स्वामित्व या प्रतिनिधित्व प्राप्त करना हो उतने क्षेत्र को जीतना होगा; ऐसा नहीं हो सकता कि हम जीतें राजस्थान को और स्वामी बन जायें पूरे हिन्दुस्तान के। हम चुनाव लड़ें नगरनिगम का और बन जायें भारत के प्रधानमंत्री। भारत का प्रधानमंत्री बनना है तो लोकसभा का चुनाव लड़ना होगा और समस्त भारत में से चुने हुए प्रतिनिधियों का बहुमत प्राप्त करना होगा। उसीप्रकार ऐसा नहीं हो सकता हम जीतें खंड इंद्रियों को और प्राप्त कर लें अखंड पद को। अखंड पद को प्राप्त करने के लिये जिसमें पाँचों ही इंद्रियाँ गर्भित हैं ऐसी अखंड स्पर्शन-इंद्रिय को जीतना होगा।

यही कारण है कि आचार्यों ने प्रमुखरूप से स्पर्शन-इंद्रिय के जीतने को ब्रह्मचर्य कहा है।

रसनादि चार इंद्रियाँ न हों तो भी सांसारिक जीवन चल सकता है, पर स्पर्शन-इंद्रिय के बिना नहीं। आँखें फूटी हों, कान से कुछ सुनायी नहीं पड़ता हो, तो भी जीवन चलने में कोई बाधा नहीं, पर स्पर्शनइंद्रिय के बिना तो सांसारिक जीवन की कल्पना भी संभव नहीं।

आँख-कान-नाक के विषयों का सेवन तो कभी-कभी होता है, पर स्पर्शन का तो सदा

चालू ही है। बदबू आवे तो नाक बंद की जा सकती है, तेज आवाज में कान भी बंद किये जा सकते हैं। आँख का भी बंद करना संभव है। इसप्रकार आँख, नाक, कान बंद किये जा सकते हैं, पर स्पर्शन का क्या बन्द करें? वह तो सर्दी-गर्मी, रूखा-चिकना, कड़ा-नरम का अनुभव किया ही करती है।

रसना का आनंद खाते समय ही आता है। इसीप्रकार घ्राण का सूँघते समय, चक्षु का देखते समय तथा कर्ण का मधुर वाणी सुनते समय ही योग होता है; पर स्पर्शन का विषय तो चालू ही है।

अत: स्पर्शन-इंद्रिय क्षेत्र से तो अखंड है ही, काल से भी अखंड है। शेष चार इंद्रियाँ न क्षेत्र से अखंड हैं, न काल से।

चारों इंद्रियों के कालसंबंधी खंडपने एवं स्पर्शन के अखंडपने का एक कारण और भी है। वह यह कि स्पर्शन-इंद्रिय का साथ तो अनादि से लेकर आज तक अखंडपने है, कभी भी उसका साथ छूटा नहीं। कभी ऐसा नहीं हुआ कि आत्मा के साथ संसारदशा में स्पर्शन इंद्रिय न रहे। पर शेष चार इंद्रियाँ अनादि की तो हैं ही नहीं, क्योंकि निगोद में थी ही नहीं। जब से उनका संयोग हुआ है, छूट भी अनेक बार गयी हैं। ये आनी-जानी हैं; आती हैं, चली जाती हैं, फिर आ जाती हैं। इनसे छूटना न तो कठिन है, और न लाभदायक ही; पर स्पर्शन इंद्रिय का छूटना जितना कठिन है, उससे अधिक लाभदायक भी। क्योंकि इसके छूट जाने पर जीव को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। यह एक बार पूर्णत: छूट जावे तो दुबारा इसका संयोग नहीं होता।

चार इंद्रियों की गुलामी तो कभी-कभी ही करनी पड़ी है, पर इस स्पर्शन के गुलाम तो हम सब अनादि से हैं। इसकी गुलामी छूटे बिना, गुलामी छूटती ही नहीं।

जब तक स्पर्शन इंद्रिय के विषय को जीतेंगे नहीं तब तक हम पूर्ण सुखी, पूर्ण स्वतंत्र नहीं हो सकेंगे। इस स्पर्शन इंद्रिय के विषय को अपना महान शत्रु, त्रैकालिक शत्रु, सार्वभौमिक शत्रु जानकर ही आचार्यों ने इसके विषय-त्याग को ब्रह्मचर्य घोषित किया है, पर इसका आशय यह कदापि नहीं कि हम चार इंद्रियों के विषयों को भोगते हुए सुखी हो जावेंगे। क्योंकि मर्म की बात तो यह है कि जब तक यह आत्मा आत्मा में लीन नहीं होगा, किसी न किसी इंद्रिय का

विषय चलता ही रहेगा और जब यह आत्मा आत्मा में लीन हो जावेगा तो किसी भी इंद्रिय का विषय नहीं रहेगा।

अत: यह निश्चित हुआ कि पंचेन्द्रियों के विषयों के त्यागपूर्वक हुई आत्मलीनता ही ब्रह्मचर्य है।

पंचेन्द्रियों के विषयों के भोगों के त्याग की बात तो यह जगत आसानी से स्वीकार कर लेता है, किंतु जब यह कहा जाता है कि पंचेन्द्रियों के माध्यम से जानना-देखना भी आत्मरमणतारूप ब्रह्मचर्य में साधक नहीं, बाधक ही है; तो सहज स्वीकार नहीं करता। उसे लगता है कि कहीं ज्ञान (इन्द्रियज्ञान) भी ब्रह्मचर्य में बाधक हो सकता है ? पर वह यह विचार नहीं करता कि आत्मा तो अतीन्द्रिय महापदार्थ है, वह इंद्रियों के माध्मय से कैसे जाना जा सकता है ? स्पर्शन इंद्रिय के माध्यम से तो स्पर्शवानपुद्गल पकड़ने में आता है, आत्मा तो स्पर्शगुण से रहित है। इसीप्रकार रसना का विषय तो है रस और आत्मा है अरस, घ्राण का विषय तो है गंध और आत्मा है अगंध, चक्षु का विषय है रूप और आत्मा है अरूपी, कर्ण का विषय है शब्द और आत्मा है शब्दातीत, मन का विषय है विकल्प और आत्मा है विकल्पातीत —इसप्रकार सभी इंद्रियाँ और अनिंद्रिय (मन) तो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण शब्द एवं विकल्प के ग्राहक हैं और आत्मा अस्पर्शी, अरस, अगंध, अरूपी एवं शब्दातीत, विकल्पातीत है।

अत: इंद्रियातीत-विकल्पातीत आत्मा को पकड़ने में, जकड़ने में इंद्रियाँ और मन अनुपयोगी ही नहीं, वरन् बाधक हैं, घातक हैं, क्योंकि जब तक यह आत्मा इंद्रियों एवं मन के माध्यम से ही जानता-देखता रहेगा तब तक आत्मदर्शन नहीं होगा। जब आत्मदर्शन ही न होगा तब आत्मलीनता का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

इंद्रियों की वृत्ति बहिर्मुखी और है आत्मा अंतरोन्मुखी वृत्ति से पकड़ने में आता है।

कविवर द्यानतरायजी ने दशलक्षण पूजन में भी कहा है—

'ब्रह्मभाव अंतर लखो'

ब्रह्मस्वरूप आत्मा को देखना है तो अंतर में देखो। आत्मा अंतर में झांकने से दिखायी देती है, क्योंकि वह है भी अंतर में ही।

[उत्तरार्द्ध अगले अंक में]

पस्सदि जिणसासणं सव्वं

परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द के सर्वोत्तम ग्रंथराज समयसार की पन्द्रहवीं गाथा तथा उसमें समागत कलश नं० १४ ओर १५ पर हुए पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचनों का संक्षिप्त सार यहाँ दिया जा रहा है। मूल गाथा इस प्रकार है :-

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससन्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१५॥

जो पुरुष आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष (तथा उपलक्षण से नियत और असंयुक्त) देखता है, वह सर्व जिनशासन को देखता है—जो जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभ्यंतर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है।

समयसार की इस गाथा में समग्र जिनशासन का सार भर दिया है। इस गाथा में चारों अनुयोगों की कथनी का परमार्थरूप भाव समाया है।

जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त—इन पाँच भावोंस्वरूप आत्मा की अनुभूति है—वह निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है, क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है। ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है।

जो जीव कर्मबंध और संयोगरहित, एकरूप, सामान्य, निश्चय और निर्विकारी आत्मा का अनुभव करते हैं—वे संपूर्ण जिनशासन को देखते हैं। अहो! जिनशासन आत्मा की पर्याय है। आत्मा के बाहर अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव में जैनशासन नहीं रहता। इसलिये जिसने पर से भिन्न शुद्ध एकरूप आत्मा को देख लिया उसने समस्त जिनशासन को देख लिया—ऐसा कहा है।

आत्मा को निश्चय से बद्धस्पृष्टादि पाँच भावों से रहित कहा, इसमें गर्भितरूप से यह भी आ गया कि व्यवहार से आत्मा उपर्युक्त पाँच भावोंसहित है—इसप्रकार अनेकांत भी आ गया; परंतु शुद्धनय का विषयभूत आत्मा बद्धस्पृष्टादि पाँच भावों से रहित ही है।

शुद्ध आत्मा का अनुभव करने पर होनेवाला भावश्रुतज्ञान ही जिनशासन है। यह भावश्रुतज्ञान रागरहित है। संपूर्ण द्रव्यश्रुत का तात्पर्य आत्मानुभूति ही है। जब निर्विकल्प भावश्रुतज्ञान से आत्मानुभूति होती है, तब वह भावश्रुतज्ञान आत्मा में अभेद हो जाता है, इसलिये शुद्ध आत्मा की अनुभूति को निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति कहते हैं। ज्ञान की अनुभूति, आत्मा की अनुभूति, जैनशासन अथवा समस्त द्रव्यश्रुत का सार—सभी एक ही हैं।

देखो! यहाँ आत्मा में अभेद हुई भावश्रुतज्ञानपर्याय को भी आत्मा कहा है, जबकि अन्य स्थान पर केवलज्ञानपर्याय भी आत्मा नहीं है—ऐसा कहा है। भावश्रुतज्ञानपर्याय स्वभाव का अवलंबन कर उसमें अभेद हो गयी है, इसलिये यहाँ उसे भी आत्मा कह दिया है।

सामान्यज्ञान के आविर्भाव और विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान के तिरोभाव से जब ज्ञानमात्र का अनुभव किया जाता है, तब ज्ञान प्रकट अनुभव में आता है; तथापि जो अज्ञानी हैं, ज्ञेयों में आसक्त हैं, उन्हें वह स्वाद में नहीं आता।

सामान्यज्ञान का आविर्भाव अर्थात् क्या?

जब ज्ञान द्रव्यसामान्य का अवलंबन लेकर उसमें अभेद हुआ तब भेद का विकल्प भी नहीं रहा, मात्र द्रव्यसामान्य का ही अवलंबन रहा—यही सामान्यज्ञान का आविर्भाव है। शक्तिरूप सामान्यज्ञान तो त्रिकाल है, परंतु उसके अवलंबनरूप ज्ञानपर्याय का प्रकट होना ही सामान्यज्ञान का आविर्भाव है, यही जिनशासन है।

जब ज्ञान सामान्यध्रुवस्वभाव का अवलंबन लेकर उसमें अभेद हुआ तब राग में अटकना नहीं रहा, परसन्मुखता नहीं रही अर्थात् विशेषज्ञान का तिरोभाव हुआ।

अज्ञानदशा में ज्ञायकस्वभाव का अवलंबन नहीं था, मात्र परज्ञेयों और रागादि में ही ज्ञान अटकता था; तब सामान्यज्ञान का तिरोभाव और विशेषज्ञान का आविर्भाव था, विशेष ज्ञेयाकारज्ञान का ही लक्ष्य था। अनादि से आज तक अज्ञानी ने कभी सामान्यज्ञान स्वभाव का अवलंबन नहीं किया। उसका ज्ञान बंध, अनेकता, भेद, विकार आदि में ही रुका रहा; परंतु एकरूप अबंधस्वभाव की ओर कभी नहीं झुका अर्थात् उसके ज्ञान में सामान्य का तिरोभाव और विशेष का आविर्भाव ही रहा।

यहाँ सामान्य का अर्थ गुण और विशेष का अर्थ पर्याय—ऐसा नहीं है। परंतु

सामान्यस्वभाव में अभेद होकर प्रकट होनेवाला ज्ञान सामान्य, और ज्ञेयों तथा रागादि में रुकनेवाला ज्ञान विशेष—ऐसी विवक्षा है। शुद्धात्मा में अभेदरूप भावश्रुतज्ञान ही सामान्य का आविर्भाव है, और यही जिनशासन है।

द्रव्यश्रुत संबंधी विकल्प भी जैनशासन नहीं है। द्रव्यश्रुत का वाच्य भी यही है कि भावश्रुतज्ञान से आत्मा का अवलंबन लेना चाहिये। निर्विकल्पज्ञान, भावश्रुतज्ञान, स्वभाव का अवलंबन और जिनशासन सभी एक ही हैं। पर की ओर झुकनेवाली ज्ञानपर्याय जब स्वभाव की ओर झुकी तब ज्ञान का आविर्भाव हुआ और तब ज्ञान विकार की ओर न झुका—यह विशेष ज्ञेयाकारज्ञान का तिरोभाव हो गया। इसप्रकार ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है—इसका अस्ति-नास्ति से स्पष्टीकरण किया।

केवलज्ञानपर्याय का भेद करने से विकल्प होता है, इसलिए केवलज्ञान भी आत्मा नहीं है—ऐसा कहते हैं, क्योंकि केवलज्ञानादि पाँच भेदों से आत्मा का स्वरूप नहीं पहचाना जाता। यहाँ अंतर में झुके हुए भावश्रुतज्ञान को आत्मा कहा है, क्योंकि वह पर्याय आत्मा में अभेद हो गयी है। ज्ञानपर्याय द्रव्य में झुककर अभेद हुई, तब सामान्य का आविर्भाव कहा जाता है।

जो बद्धस्पृष्टादि भावों से रहित आत्मस्वभाव का आश्रय नहीं करता, उसे आत्मा का अनुभव नहीं होता। स्वभाव का अवलंबन लेकर आत्मा का अनुभव करने पर सामान्यज्ञान प्रकट होता है और बद्धस्पृष्टादि व्यवहारभाव तिरोभूत हो जाते हैं। अज्ञानी जीव का स्वभाव भी अबद्धस्पृष्टादिस्वरूप है, परंतु वह बद्धस्पृष्टादि व्यवहारभावों का पक्ष करता है, स्वभाव का अवलंबन नहीं करता; इसलिये पर्याय में अबद्धस्पृष्ट स्वभाव प्रकट नहीं होता।

भावश्रुतज्ञान के साथ आनंद का अनुभव है। भेद का अवलंबन तोड़कर ज्ञानानंद स्वभाव का अवलंबन करने से अपूर्व आनंद का स्वाद होता है, यही जैनशासन है।

अनादि से पर्यायमूढ़ अज्ञानी जीव क्षयोपशम ज्ञान और राग में आसक्त है, अतः उसे सामान्यज्ञान का प्रकट अनुभव नहीं होता। यह बात नमक के उदाहरण से समझाते हैं—

अनेक प्रकार के शाकादि के संबंध से उत्पन्न सामान्य लवण के तिरोभाव और विशेष लवण के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला जो (सामान्य के तिरोभावरूप और शाकादि के स्वाद से भेदरूप-विशेषरूप) लवण है, उसका स्वाद अज्ञानी शाकलोलुप मनुष्यों को आता है;

किंतु अन्य की संबंधरहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आनेवाला जो एकाकार अभेदरूप लवण है, उसका स्वाद नहीं आता; और परमार्थ से देखा जाए तो विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला (क्षाररसरूप) लवण ही सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला (क्षाररसरूप) लवण है।

जो शाक के स्वाद में ही लोलुपी हैं, वे शाक और नमक के स्वाद में अंतर नहीं कर सकते; उन्हें नमक के खारे स्वाद का अनुभव नहीं है। शाक में भी नमक का स्वाद आता है, परंतु शाकलोलुपी मनुष्य उसे तो शाक के स्वाद से भिन्न नहीं जानते और शाक को ही खारा मान लेते हैं जबकि खारा नमक है। जिन्हें पूड़ी, शाक इत्यादि के संबंध से रहित मात्र नमक के सामान्यस्वाद का भान नहीं है, वे शाक को ही खारा मानते हैं।

परमार्थ से देखने पर शाक, दाल, खिचड़ी इत्यादि में जो नमक का खारा स्वाद आता है वही स्वाद शाकादि के संबंध से रहित सामान्य नमक में आता है। परंतु आहार के तीव्र लोलुपी को शाक और नमक के भिन्न स्वाद की खबर नहीं होती। शाक में जो खारा स्वाद आता है, वह नमक का ही स्वाद है।

अज्ञानी जीव को अनेक ज्ञेयों से अनेक भेदरूप विशेषज्ञान ही भासित होता है, परंतु रागरहित सामान्य एकाकार अभेदरूप ज्ञान उसके अनुभव में नहीं आता। उसे निमित्त और रागादि में एकाकार विशेषज्ञान ही स्वाद में आता है, तथा निमित्त और राग से भिन्न ज्ञानानंद स्वभाव का अनुभव नहीं होता।

अनेक प्रकार के ज्ञेयाकारों के साथ मिश्ररूपता से उत्पन्न सामान्य के तिरोभाव और विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला ज्ञान अज्ञानी ज्ञेयलुब्ध जीवों के स्वाद में आता है; किंतु अन्य ज्ञेयाकार की संयोगरहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आनेवाला एकाकार अभेदरूप ज्ञान अज्ञानी के अनुभव में नहीं आता।

अज्ञानी जीव ज्ञेयों से भिन्न ज्ञानस्वभाव को भूलकर ज्ञेयों में ही लुब्ध हो गया है अर्थात् उसका ज्ञान ज्ञेयों में ही अटक गया है। उसे अनादि से ज्ञानस्वभाव की रुचि ही नहीं हुई और ज्ञेयमिश्रित ज्ञान का ही अनुभव हुआ है। वस्तुतः ज्ञान और ज्ञेय भिन्न-भिन्न हैं, परंतु अज्ञानी को इस भिन्नता का भान नहीं है।

जो निमित्त के आश्रय से ज्ञान होना मानते हैं उनके ज्ञान में ज्ञानसामान्य का प्रादुर्भाव नहीं होता; परंतु निमित्त और रागमिश्रित विशेषज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। वे ज्ञेयों में लुब्ध होकर आकुलता का ही स्वाद लेते हैं, उनका सामान्यज्ञानस्वभाव तिरोभूत हो गया है अर्थात् ढंक गया है।

ज्ञान सामान्य के अवलंबन से जो रागरहित विशेषज्ञान प्रकट होता है, उसे सामान्य का आविर्भाव कहते हैं। ज्ञानी की दृष्टि में सदा सामान्य का आविर्भाव और विशेष का तिरोभाव रहता है। अज्ञानी की दृष्टि में सदा सामान्य का तिरोभाव और विशेषज्ञान का आविर्भाव रहता है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रतसम्यग्दृष्टि को सदा स्वभाव की अधिकता रहती है और रागादि की गौणता होती है, इसलिये उसे सामान्यज्ञान का आविर्भाव और विशेष-ज्ञेयाकारज्ञान का तिरोभाव होता है।

ज्ञानी की दृष्टि में ज्ञान की मुख्यता हुई और राग की मुख्यता गयी, इसलिये उसका ज्ञान राग में एकाकार नहीं होता और सामान्यज्ञानस्वभाव में ही एकाकार रहता है। स्वभावसन्मुख होने पर पर्याय तो विशेष-विशेष होती ही है, पर्याय में शुद्धता भी बढ़ती जाती है; तो भी उस पर्याय को एकाकार कहते हैं, क्योंकि उसकी दृष्टि पर्यायों के भेद पर नहीं होती, अपितु सामान्यज्ञानस्वभाव में ही अभेद होती है।

परमार्थ से विचार किया जाए तो जो ज्ञान विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आता है, वही ज्ञान सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है। अलुब्ध ज्ञानियों को तो जैसे सैंधव की डली अन्य द्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल सैंधव का ही अनुभव किये जाने पर—सर्वतः एक क्षाररसत्व के कारण क्षाररूप से स्वाद में आता है, उसीप्रकार आत्मा भी परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल आत्मा का ही अनुभव किये जाने पर सर्वतः एक विज्ञानघनता के कारण ज्ञानरूप से स्वाद में आता है।

अज्ञानी को राग को जानते समय ज्ञान और राग एकमेक भासित होते हैं। ज्ञानी को राग और ज्ञान भिन्न-भिन्न भासित होते हैं, सर्वत्र ज्ञान का ही स्वाद आता है। जैसे अलुब्ध जीवों को शाक खिचड़ी इत्यादि में सर्वत्र नमक ही खारे स्वादरूप में प्रतिभासित होता है; उसीप्रकार ज्ञानी को सर्वत्र परद्रव्य के संयोगरहित एकरूप ज्ञानमूर्ति आत्मा ही स्वाद में आता है,

बद्धस्पृष्टादि पाँचों भाव परद्रव्य में समा जाते हैं। इसीलिए तो कहा है कि परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके मात्र विज्ञानघन आत्मा का ही अनुभव करनेवाले ज्ञानी को सर्वतः एक विज्ञानघन आत्मा ही स्वाद में आता है। राग को जानते समय भी उसे राग के स्वाद की मुख्यता नहीं होती, अपितु राग से भिन्न विज्ञानघन आत्मा के स्वाद की मुख्यता होती है।

अहो! आचार्यदेव ने इस एक गाथा में समग्र जिनशासन समा दिया है।

पंडित बनारसीदासजी ने भी समयसार नाटक में लिखा है—

यह निचोर या ग्रंथ को, यहै परमरस पोख।
तजे शुद्धनय बंध है, गहै शुद्धनय मोख॥

पुद्गल का खट्टा, मीठा, खारा, स्वाद आत्मा में नहीं आता; परंतु उस स्वाद का ज्ञान आत्मा में होता है। स्वाद को जानना तो आत्मा का स्वभाव है; परंतु स्वाद को जानते समय अज्ञानी ऐसा अनुभव करते हैं कि मेरे ज्ञान में जड़ का स्वाद आता है अर्थात् वे ज्ञान को उस स्वादरूप ही अनुभव करते हैं। जड़ का स्वाद जड़ में है, आत्मा का ज्ञानस्वभाव तो जड़ और राग से भिन्न है—ऐसा भान अज्ञानी को नहीं होता।

अंतर में स्वभाव की ओर ढलने पर स्वपर-प्रकाशक ज्ञान प्रकट होता है, तब ज्ञान और ज्ञान का भिन्न-भिन्न स्वाद अनुभव में आता है। ज्ञानी की दृष्टि में अपने शुद्ध आत्मा के अनुभव की ही प्रधानता है और आत्मा का अनुभव ही जिनशासन है।

अब उक्त गाथा की टीका में समागम कलश कहते हैं—

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनमंतर्बहि—
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालंबते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम्॥१४॥

आचार्य कहते हैं कि जो तेज सदाकाल चैतन्य के परिणमन से परिपूर्ण है, एक क्षाररस की लीला का आलंबन करनेवाली नमक की डली के समान जो एक ज्ञानरसस्वरूप का आलंबन करता है, अखंडित है—ज्ञेयों के आकार से खंडित नहीं होता, जो अनाकुल है—जिसमें कर्मों के निमित्त से होनेवाले रागादि से उत्पन्न आकुलता नहीं है, जो अविनाशीरूप

से अंतरंग में और बाहर प्रकट दैदीप्यमान है—जानने में आता है, जो स्वभाव से ही हुआ है—जिसे किसी ने नहीं रचा और जिसका विलास सदा उदयरूप है, जो एकरूप प्रतिभासमान है; वह उत्कृष्ट तेज हमें प्राप्त हो।

यहाँ आचार्यदेव साधकदशा में पूर्णपद की भावना भाते हैं। अबद्धस्पृष्टादिभावस्वरूप आत्मा का अनुभव होते हुए भी अनुभव की पूर्णता नहीं हुई, अत: आचार्यदेव कहते हैं कि चैतन्य के परिणमन से भरा उत्कृष्ट प्रकाश हमें प्राप्त हो।

जैसे नमक का स्वभाव प्रकटरूप से सतत् खारेपन को ही बताता है; उसीप्रकार चैतन्य का निरालम्बी स्वभाव प्रकटरूप से सतत् निरुपाधिक ज्ञातृत्व को ही बताता है।

इसीप्रकार धर्मी जीव की भावना होती है। उन्हें अधर्म का नाश करनेवाली निर्मल श्रद्धा-ज्ञान और स्वरूप की रमणता बढ़ाने की भावना है। उसमें भूमिकानुसार अनंत पुरुषार्थ आ जाता है।

ज्ञानी शुद्धदृष्टि के स्वाश्रित बल से परनिमित्त के भेद से रहित केवल ज्ञानरसस्वरूप का ही अवलंबन करते हैं। पुण्य-पाप की क्रियारूप विकार से रहित देहादि और रागादिरहित मात्र चिदानंदस्वरूप भगवान आत्मा का ही अवलंबन करते हैं।

आत्मा को किसी का आधार है या नहीं ? या मात्र निरालंबी ही है ?

आत्मा, चैतन्यस्वभावरूप अपार उत्कृष्ट सामर्थ्य का स्वामी होने से स्वाश्रय से ही शोभित एकरूपज्ञानकला का ही अवलंबन करता है। ज्ञेयों के भेद से खंडित न होने से ज्ञानकला सदा अखंडित है। ज्ञान में ज्ञात होनेवाले शुभाशुभराग ज्ञान से भिन्न रहते हैं। अनेक को जानते हुए भी जिसमें अनेकता नहीं होती—ऐसी एकरूप ज्ञानकला का ही अवलंबन आत्मा को है।

जगत की मोह ममता में जीव कितना भटकता है ? घर कुटुंब प्रतिष्ठा इत्यादि को यथावत् बनाये रखने का भार धारण करके मिथ्याभिज्ञान से मात्र आकुलता का ही वेदन करता है। ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी पर का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है।

वर्तमान में निवृत्ति लेकर सत्समागम से सत्य का श्रवण-मनन करे तो उच्चपुण्य का बंध होता है और यदि सत्स्वरूप को समझे तो उसके लाभ का कहना ही क्या ? संसार का

कचरा उठाने की मजदूरी करके दु:ख भोगने के बजाय सत्य को आदरपूर्वक स्वीकार करके (उसका आदर करके) समझना ही सर्वोत्तम है।

आत्मस्वभाव अविनाशी है, उसका कभी विनाश नहीं होता; और जिसका विनाश नहीं होता उसकी उत्पत्ति भी नहीं होती अर्थात् आत्मा अनादि-अनंत है। शुद्धनय से देखने पर अंतरंग में एकाकार शांत चैतन्यस्वभाव अनादि-अनंत दैदीप्यमान एकरूप अनुभव में आता है।

धर्मी को मन-वचन-काय की चेष्टा में प्रसन्नता कैसे होती है ?

धर्मी जीव को उत्कृष्ट पवित्र स्वभाव का बहुमान होता है। इसलिये निमित्तरूप से बाहर मुख पर सौम्यता, प्रसन्नता और विशेष प्रकार की शांति सहज ही होती है। जिसे अधिक कषाय होती है, उसकी आँखों में लाली इत्यादि आकुलता होती है। कर्तृत्वस्वभाव तथा अहंभाव का अभिमान वचन में प्रकट हुए बिना नहीं रहता और ज्ञानी को पर के प्रति कर्तृत्व या ममत्व नहीं होता—इसलिये बाह्य में भी वह अज्ञानी से अलग ही मालूम पड़ता है। उसके वचनों में और चेष्टा में निस्पृहता और धैर्य झलकता है, इसलिये मैं पर का कुछ नहीं कर सकता—ऐसे निस्पृहभाव का अनुमान हो सकता है। ज्ञानी को निवृत्तिमय स्वरूप अनुकूल हो गया है, ज्ञान की निरुपाधिकता प्रतीत हुई है; इसलिये ज्ञानी और अज्ञानी में अंतर दिखायी देता है। यह सब व्यवहार की अपेक्षा कथन है।

प्राय: ऐसा देखा जाता है—किसी को सत्य की प्रतीति न हो, किंतु बाह्य में स्थिर होकर ध्यान में बैठता है। अभिप्राय में पर के कर्तृत्व और ममत्व होने से उसे अनंत राग-द्वेष होता है। बाहर से ध्यानमग्न दिखायी दे, परंतु भीतर अनेक प्रकार के मिथ्या अभिप्रायों की शल्य लगी रहती है। इस अपेक्षा से बाह्यप्रकृति आंतरिक गुणों का आधार नहीं है।

अज्ञानी बाहर से शांत बैठा दिखायी दे, किंतु अंतरंग में ऐसे विचार उठते हैं कि यदि मैं कुछ करूँ और बोलूँ तो दूसरों से अधिक महान हो जाऊँ। और ज्ञानी बाह्य में राज्य करता हो फिर भी अंतरंग में ऐसे विचार उठते हैं कि कब पर का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव में स्थिर हो जाऊँ तो उसी में मेरी महत्ता है।

ज्ञानी को अज्ञानी की भाँति अधैर्य नहीं होता। यदि इकलौता जवान बेटा बीमार हो तो ज्ञानी उसकी औषधि कराता है, उपचार कराता है, सेवा करता है; किंतु उसके अंतरंग में

आकुलता नहीं होती और वह मन में समाधान करता है कि जो होना होगा सो होगा। यदि पुत्र का मरण हो जाये तो ज्ञानी रोता है और अज्ञानी नहीं रोता—ऐसा भी होता है; किंतु इसप्रकार की बाह्य चेष्टा से ज्ञानी और अज्ञानी की परीक्षा नहीं होती।

इसप्रकार आचार्यदेव ने एकाकारस्वरूप ज्ञानानंदमयज्योति प्राप्त होने की भावना की है। यह मात्र विकल्परूप भावना की बात नहीं है, परंतु अंतरंग परिणमन की बात है।

अब आगामी गाथा की सूचनारूप कलश कहते हैं:—

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम्॥१५॥

इस ज्ञानघनस्वरूप नित्य-आत्मा की सिद्धि के इच्छुक पुरुषों को साध्य-साधक भाव के द्विभेद से एक आत्मा ही का नित्य सेवन करना चाहिये।

१३वीं गाथा में सम्यग्दर्शन की बात प्रारंभ की। १४वीं गाथा में सम्यग्दर्शन के विषयभूत जीव का स्वरूप दर्शन की प्रधानता से समझाया और १५वीं गाथा में ज्ञान की मुख्यता से अनुभूति का स्वरूप बताया। अब १६वीं गाथा में दर्शन और ज्ञान के साथ चारित्र का परिणमन कैसा अभेदरूप होता है—यह बताते हैं।

जैसे नमक क्षारस्वभावी है, खड़ी श्वेतस्वभावी है; उसीप्रकार आत्मा ज्ञानस्वभावी है। जानने के सिवाय आत्मा का दूसरा कोई स्वभाव नहीं है। उस ज्ञानस्वभावी आत्मा की प्राप्ति के अभिलाषी जीवों को साध्य और साधक ऐसे दो प्रकार के भेदों से एक ही आत्मा नित्य सेवनीय है, उसका सेवन करो।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र साधक हैं और जीव की परिपूर्ण शुद्धदशा साध्य है। इसप्रकार साध्य और साधक ऐसे दो भेद होते हुए भी आत्मा तो दोनों में एक ही है; इसलिये भेदबुद्धि छोड़कर एक आत्मा का ही सेवन करना चाहिये। निमित्त और रागादि सेवन करनेयोग्य नहीं हैं, एक ज्ञानस्वरूप आत्मा ही सेवन करनेयोग्य है।

आत्मा की पूर्णशुद्धपर्याय साध्य है, यह व्यवहार से कहा है। वास्तव में परमपारिणामिक भावरूप अखंड अभेद आत्मा ही साध्य है; व्यवहारीजीव पर्याय को जानते हैं, इसलिये व्यवहार से पर्याय के भेद से कथन किया है। अखंडस्वभाव को ध्येय बनते ही

साधकभाव प्रकट होता है, बढ़ता है, और पूर्ण होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अपूर्ण पर्याय साधक है और पूर्ण पर्याय साध्य है—ऐसे दो प्रकार से एक आत्मा ही सेवन करनेयोग्य है, ऐसा कहकर भेद का लक्ष्य छुड़ाया है।

साध्य-साधनभाव आत्मा में ही है। मन-वचन-काय का अवलंबन साधन नहीं है। कोई शुभ विकल्प भी आत्मा के हित में साधन नहीं है, ऐसा जानकर निर्विकल्प निरावलंबी पूर्णज्ञानस्वरूप को लक्ष्य में लेकर एकत्व स्वभाव में स्थिर होना चाहिये।

दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधकभाव आत्मा में है और साधुओं को उनका सेवन करना चाहिये। साधुओं में श्रावक सम्यक्त्वी आदि सभी ज्ञानियों का समावेश है। जैसे पिता अपने बड़े पुत्र से घर-गृहस्थी संबंधी बातें करता है; किंतु वे मात्र उसी के लिये नहीं होतीं, सभी पुत्रों के लिये होती है; उसीप्रकार सर्वज्ञ भगवान की बातें उनके उत्तराधिकारी निर्ग्रंथ साधु, आर्यिका, श्रावक और श्राविका चारों तीर्थ के लिये हैं।

मोक्षमार्ग भी अपूर्ण अवस्था है। साथ में होनेवाले शुभभाव मोक्षमार्ग नहीं है। अखंड के लक्ष्य के बाद अवस्था को जानना व्यवहार है। किंतु स्वभाव के लक्ष्य बिना मात्र अवस्था को जानना व्यवहार भी नहीं कहलाता। ●●

वाँचन, श्रवण, मनन, घोलन

राग और संयोग का अंतरंग में निषेध होता है, वह श्रद्धा-ज्ञान की पर्याय है या नहीं? घंटा, दो घंटा, चार घंटा पर्यंत जो इसी का घोटन, वांचन, श्रवण, मनन, विचार किया जाता है; चौबीसों घंटे—यह देह का कार्य मेरा नहीं, राग का कार्य भी मेरा नहीं—इसप्रकार अंतरंग में घोलन किया जाता है; इससे श्रद्धा-ज्ञान में कोई अंतर नहीं पड़ा क्या? क्या यह ज्ञान की क्रिया नहीं है?

अवश्य है। परंतु करें क्या? बाह्य क्रियाकांड के आग्रहवाले को अंतर के श्रद्धा-ज्ञान की कोई महिमा ही दिखायी नहीं पड़ती।

अरे भाई! यह श्रद्धा-ज्ञान का कार्य अंदर में सम्यक् होता जाता है और क्रम-क्रम करके समयमात्र में विकल्प टूटकर निर्विकल्प स्वानुभवरूप हो जाता है।

—पूज्य स्वामीजी

लोयविभागेसुणादव्वे

परमपूज्य दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम नियमसार की १६वीं-१७वीं गाथा तथा तत्संबंधी कलशों पर हुए पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचनों का सार यहाँ दिया जा रहा है। मूल गाथाएँ इस प्रकार हैं:—

माणुस्सा दुवियप्पा कम्ममहीभोगभूमिसंजादा।
सत्तविहा णेरइया णादव्वा पुढविभेदेण॥१६॥
चउदहभेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा।
एदेसिं वित्थारं लोयविभागेसु णादव्वं॥१७॥

मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—कर्मभूमिज और भोगभूमिज। नरक की भूमियों के भेद से नारकी सात प्रकार के होते हैं।

तिर्यंच चौदह प्रकार के कहे गये हैं। देव चार प्रकार के होते हैं—इनका विस्तार लोकविभाग में से जान लेना चाहिये।

यह चार गति के स्वरूप-निरूपणरूप कथन है।

मनु की संतान वह मनुष्य है। भोगभूमि के अंत में और कर्मभूमि के आदि में होनेवाले कुलकर, मनुष्यों को आजीविका के साधन सिखाकर लालन-पालन करते हैं, अत: वे मनुष्यों के पिता समान हैं। उन कुलकरों को मनु कहा जाता है।

मनुष्य दो प्रकार के हैं—कर्मभूमिज और भोगभूमिज।

उनमें कर्मभूमिज मनुष्य भी दो प्रकार के हैं—आर्य और म्लेच्छ। पुण्यक्षेत्र में रहनेवाले आर्य तथा पापक्षेत्र में रहनेवाले म्लेच्छ हैं।

भोगभूमिज मनुष्य आर्य नाम के धारक हैं; जघन्य, मध्यम अथवा उत्तम क्षेत्र में रहनेवाले हैं; और एक पल्योपम, दो पल्योपम अथवा तीन पल्योपम आयुवाले हैं।

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तम:प्रभा और महातम:प्रभा नाम की सात पृथ्वियों के भेद के कारण नारकजीव सात प्रकार के हैं। प्रथम नरक के नारकी

एक सागरोपम की आयुवाले, द्वितीय के तीन, तृतीय के सात, चतुर्थ के दश, पंचम के सत्तरह, छठे के बाईस और सप्तम के तेतीस सागरापेम आयुवाले हैं।

अब विस्तार के भय से संक्षेप में तिर्यंचों के चौदह भेद कहते हैं—

१-२. सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, ३-४. बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, ५-६. द्वीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, ७-८. त्रीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, ९-१०. चतुरिन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, ११-१२. असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, १३-१४. संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त।

देवों के चार निकाय (समूह) हैं। भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और कल्पवासी।

आत्मा के भान बिना जीव ने ऐसी चार गतियों में अनंत भव धारण किये हैं। सहज-चैतन्यपरमतत्त्व है, उसके अभ्यास बिना जीव ने अनादि से नरकादि गतियों के भयंकर दुःख अनंत बार भोगे हैं। जिसे चतुर्गति के भव धारण न करना हो उसे अपने सहजपरमचैतन्यतत्त्व को पहिचान कर उसका अभ्यास करना चाहिये।

इन चतुर्गति के जीवों के भेदों का भेद लोकविभाग नामक परमागम में देखना चाहिये। यहाँ (इस परमागम में) आत्मस्वरूप के निरूपण में अंतराय का हेतु होने के कारण सूत्रकर्ता पूर्वाचार्य महाराज ने (वे विशेष भेद) निरूपित नहीं किये हैं।

यह अध्यात्म ग्रंथ है, अतः इसके मध्य में व्यवहार के भंगभेद का विस्तृत वर्णन नहीं किया है। सहजशुद्ध आत्मतत्त्व के वर्णन करने में अंतराय न पड़े इस कारण यहाँ भेदों का विशेष वर्णन नहीं किया। अर्थात् तुम परमार्थतत्त्व को समझो, ऐसा अध्यात्म दृष्टि का जोर बताया है।

आगे टीकाकार दो श्लोक कहते हैं—

स्वर्गे वास्मिन्मनुजभुवने खेचरेन्द्रस्य दैवा-
ज्जोतिर्लोके फणपतिपुरे नारकाणां निवासे।
अन्यस्मिन् वा जिनपतिभवने कर्मणां नोऽस्तु सूतिः
भूयो भूयो भवतु भवतः पादपंकेजभक्तिः ॥२८॥

हे जिनेन्द्र! दैवयोग से मैं स्वर्ग में होऊँ, इस मर्त्यलोक में होऊँ, विद्याधर के स्थान में

होऊँ, ज्योतिष्क देवों के लोक में होऊँ, नागेन्द्र के नगर में होऊँ, नारकियों के निवास में होऊँ, जिनपति के भवन में होऊँ अथवा किसी भी स्थान में होऊँ; परंतु मुझे कर्म का उद्भव न हो और पुनः पुनः आपके पाद-पंकज की भक्ति हो।

१६-१७ गाथा में चार गति का कथन किया। वहाँ मुनिराज कहते हैं कि हे प्रभो! मैं अपने स्वभाव की ही भावना में हूँ। अपने चैतन्ययोग में ही मैं एकाग्र हूँ, परंतु बीच में राग के कारण कदाचित् दैवयोग से स्वर्गादि में होऊँ तो वहाँ भी पुनः पुनः आपके चरणकमल की भक्ति ही हो—कर्म का उद्भव न हो। चैतन्य की दृष्टि से चारों गतियों का नकार वर्तता है। चतुर्गति में चाहे जिस स्थान में होऊँ किंतु मेरी दृष्टि तो चैतन्य में ही हो, मुझे कर्म का उद्भव ही न हो। चैतन्य में दृष्टि से कर्म उत्पन्न ही न होवे। कर्म है उससे आगे अब कर्म उत्पन्न न हो परंतु चैतन्य की दृष्टिपूर्वक हे नाथ! आपके पाद-कमल की ही भक्ति हो।

चार गतियों में उत्पन्न होने की भावना नहीं है, अपितु चैतन्य की ही भावना है। कर्मोद्भव न हो और आत्मोद्भव ही हो-ऐसी भावना है। जब शुद्धता में स्थिर न रह सकूँ तब आपके चरण-कमल की सेवा का शुभभाव हो।

अंतरंग निश्चयभक्तिपूर्वक व्यवहारभक्ति की बात की है—उसमें भावना तो स्वरूप की ही है।

नानानूननराधिनाथविभवानाकर्ण्य चालोक्य च।
त्वं क्लिशनासि मुधात्र किं जड़मते पुण्यार्जितास्ते ननु।
तच्छक्तिर्जिननाथपादकमलद्वन्द्वार्चनायामियं।
भक्तिस्ते यदि विद्यते बहुविधा भोगाः स्युरेते त्वयि॥२९॥

नराधिपतियों के अनेकविध महावैभव को सुनकर तथा देखकर, हे जड़मति! तू यहाँ व्यर्थ क्लेश क्यों पाता है? वे वैभव वास्तव में पुण्य से प्राप्त होते हैं। उस पुण्योपार्जन की शक्ति जिननाथ के पादपद्मयुगल की पूजा में है। यदि तुझे इन पादपद्मयुगल की भक्ति हो तो वे बहुविध भोग तुझे स्वयमेव प्राप्त होंगे।

विशेष वैराग्यपूर्वक स्वलक्ष से बात करते हैं कि अरे जीव! बाहर के वैभव की ओर का लक्ष भी दुखदायक है, चैतन्य की परमानंदसंपदा की भावना ही सुखदायक है।

पद्मप्रभमलधारिदेव निजस्वभाव की भावना करते हैं और वैभव की भावना करने योग्य

नहीं हैं–ऐसा समझाते हैं। स्वयं महासंत मुनि होने पर भी अपनी लघुता वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'हे जड़मति! वैभवों को सुनकर तू यहाँ व्यर्थ क्लेश क्यों पाता है?' अंदर अस्थिरता होने पर वैभव की तरफ लक्ष गया और राग की तनिक वृत्ति उठी—तो वह वृत्ति ही जड़मति है—इस अपेक्षा से यहाँ कहा है।

पैसा इत्यादि का वैभव तेरे वर्तमान पुरुषार्थ से नहीं मिलता, वह तो पूर्व के पुण्य से ही आता है, अतः उस वैभव की भावनारूप क्लेश को छोड़। वह वैभव तो वास्तव में पुण्य से मिलता है और वैसे पुण्य की प्राप्ति तो जिनेन्द्रदेव के चरणकमल की पूजा में है। साधकपने में चैतन्य के भानपूर्वक बीच में भगवान की भक्ति का शुभराग आ जाता है।

हे नाथ! मैं तो तुम्हारे चरण–युगल का पुजारी हूँ। राग की भक्ति करनेवाला नहीं हूँ, पुण्य या वैभव की भावना करनेवाला नहीं हूँ।

हे जीव! यदि तुझे भगवान की भक्ति होगी तो पुण्य से सहज ही वैभव तो मिल ही जायेगा, तुझे मांगना नहीं पड़ेगा। साधक को बीच में शुभराग से ऐसा वैभव तो आप ही आप प्राप्त हो जाता है, उसका ज्ञान कराया है–वैभव का लालच नहीं दिलाया है।

तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव आदि पदवी का वैभव सम्यग्दृष्टि के ही होता है। सम्यग्दृष्टि के अतिरिक्त अन्य किसी को ऐसी पदवी का पुण्य नहीं होता। अतः हे मूढ़मति! तू निजचैतन्य की भावना में ही रह, बाह्य वैभव की भावना मत कर।

स्वयं पंचम काल के मुनि हैं, अभी स्वर्ग का भव मिलेगा और वहाँ से राजकुमार के रूप में अवतार होगा—इसका ज्ञान कराया है। राग मेरा स्वरूप नहीं—ऐसा भान है। राग का आदर नहीं, आदर तो चैतन्यस्वभाव का ही है।

मुनि को स्वर्ग के अतिरिक्त अन्य कोई गति नहीं होती। धर्मात्मा को हीनगतियाँ, हीनभव होते ही नहीं; सम्यग्दर्शन के पश्चात् वैमानिक देवों में ही उत्पन्न होता है और वहाँ से भी महाउच्चकुल में ही अवतरित होता है–निकृष्टगति अथवा नीचभव में सम्यग्दृष्टि का अवतार नहीं होता।

अतः ऐसा कहा कि तू बाहर के वैभव की बात सुनकर उसकी भावना करके व्यर्थ क्लेश मत कर, चैतन्य की ही भावना कर। बीच में पुण्य बँधने पर बाह्य वैभव तो सहज ही मिल जावेगा। ●●

द्रव्यसंग्रह प्रवचन

वृहद्द्रव्यसंग्रह पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन सन् १९५२ में हुए थे। जिज्ञासु पाठकों के लाभार्थ उन्हें यहाँ क्रमशः दिया जा रहा है।

[गतांक से आगे]

(१०) लेश्यामार्गणा—क्रोध, मान, माय, लोभ, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा वगैरह कषाय हैं। कषायों से रंगे हुए आत्मा के प्रदेशों का परिस्पंदरूप व्यापार, यह लेश्या है। जैसे लकड़ी के साथ कागज चिपकाने के लिये गोंद काम करती है—वैसे कषाय-अनुरंजित लेश्या, यह आत्मा को कर्मों के साथ चिपकाने के लिये निमित्त है। दया-दानादि तथा हिंसा-असत्य आदि के परिणाम, यह आत्मा का स्वरूप नहीं है। ऐसा लेश्यारहित शुद्ध आत्मतत्त्व शुद्धनय का विषय है। इससे विपरीत लक्षणवाली छह प्रकार की लेश्या हैं।

जीवद्रव्य अनंत गुणों का पिंड है, तथा उसकी वर्तमान पर्याय स्वयंसिद्ध सत् है। इसप्रकार दो नय से वस्तु का ज्ञान करना यह प्रमाणज्ञान है। द्रव्य स्वयं के कारण से मलिन पर्याय धारण करता है। यह संसारी जीव की व्याख्या है। विकार स्वतंत्ररूप से प्रकट होता है, उसी समय आत्मा शुद्ध चैतन्यानंद ध्रुव है। आत्मद्रव्य शुद्ध है, उससे विपरीत भाव करनेवाली छह लेश्यायें हैं। जैसे गोंद में चेप (चिकास) होता है, उसीप्रकार लेश्या चेप के समान हैं। वे छह तरह की हैं।

लेश्या का स्वरूप शास्त्रों में आम्रवृक्ष का दृष्टांत देकर समझाया है।

आम खाने की इच्छावाला जीव आम का समूचा वृक्ष काटता है। यह दृष्टांत परिणामों को अत्यंत उग्र एवं भयंकर बतलाने के लिये है। आत्मा के प्रदेशों का कंपन सहित जो भयंकर उग्र परिणाम है, वह कृष्ण लेश्या है। ऐसा परिणाम सम्यग्दृष्टि जीव को भी किसी समय होता है। तब भी वह (सम्यग्दृष्टि) यह परिणाम स्वयं से हुआ है-मानता है, उसका ज्ञान करता है, उस भाव को हेय समझता है। यह परिणाम शुद्ध चैतन्य में नहीं है, शुद्ध चैतन्य तो एकरूप है—दोनों का ऐसा ज्ञान करता है।

कृष्ण लेश्या की अपेक्षा अल्प मलिन परिणाम को नील लेश्या के परिणाम कहते हैं।

आम खाने के लिये बड़ी-बड़ी शाखायें काटता है। इस दृष्टांत के अनुसार परिणाम अशुभ हैं। ज्ञानी को भी ऐसे परिणाम होते हैं, लेकिन उसकी उनमें हेयबुद्धि रहती है।

कपोत लेश्या के दृष्टांत में आम खानेवाला छोटी-छोटी शाखायें काटकर आम प्राप्त करना चाहता है। नील लेश्या के परिणामों की अपेक्षा पाप के अल्प परिणाम हैं, वे भी अशुभ हैं।

आम खानेवाला केवल गुच्छे तोड़ता है, यह पीत लेश्या का दृष्टांत है। दया-दानादि के परिणाम शुभ हैं। ये आत्मतत्त्व से विपरीत हैं, फिर भी जब तक पूर्णदशा प्राप्त न हो तब तक शुभ परिणाम होते हैं।

आम खानेवाला जो आम पके हुये हैं, उनको तोड़ता है, यह पद्मलेश्या के परिणाम का उदाहरण है। पीत लेश्यावाले जीव की अपेक्षा विशेष शुभ परिणाम होते हैं, वे भी चैतन्यतत्त्व से विपरीत हैं।

आम खानेवाला हवा से नीचे गिरे हुए आम से संतोष मानता है। यह शुक्ललेश्या का उदाहरण है। आम खाना है, इसप्रकार का भाव शुभ है।

यहाँ तो परिणामों की तारतम्यता बतलाने के लिये दृष्टांत दिया है। प्रथम तीन अशुभ, अंतिम तीन शुभ हैं। छहों लेश्या के परिणाम बंध के कारण हैं, कल्याण के कारण नहीं हैं। कुछ लोग शुक्ल लेश्या के परिणाम को धर्म का कारण मानते हैं, यह भूल है; यह बंध का कारण है, ऐसा समझना चाहिये।

(११) भव्यत्वमार्गणा— भव्य और अभव्य इसप्रकार जीवों के दो भेद हैं। धर्मी जीव भव्य-अभव्य का विचार करने से जानता है कि मैं भव्य हूँ, तथा संसार में दूसरी जाति के अभव्य भी हैं, ऐसी दो जाति अनादि से है। भव्यत्व और अभव्यत्व दोनों जीव के अनुजीवी गुण हैं। कोई जीव अनेक कसाईखाने चलाये इसलिये वह अभव्य होता है, ऐसा नहीं है। और कोई अभव्य जीव बहुत दया पाले, ब्रह्मचर्य का पालन करे तब भी वह अभव्य मिटकर भव्य नहीं होता है। जैसे वठर मूंग कभी भी पानी में नहीं सीझती (नहीं पकती), उसी प्रकार अभव्य जीव चाहे जितने शास्त्र पढ़े, अथवा क्रिया-कांड करे, तब भी उसको कभी मोक्ष नहीं हो सकता। ऐसे दो प्रकार के जीव स्वभाव से हैं, इसप्रकार धर्मी जीव जानता है।

कोई कहता है कि अपने को भव्य-अभव्य की खबर न पड़े, तो ऐसे जीव को धर्म की

ही खबर नहीं है। जिसको भव्य अथवा अभव्यपने की शंका दूर नहीं होती है, उसको कभी धर्म प्रकट नहीं हो सकता है। धर्मी जीव को अभव्य की बात सुन कभी शंका नहीं होती, किंतु वह तो ऐसा समझता है कि मेरा पुरुषार्थ ऐसा है कि अल्प समय में ही मेरी मुक्ति होगी, भगवान से पूछने नहीं जाना पड़ेगा।

अब शिष्य प्रश्न करता है कि—

''आपने इस गाथा के पहिले कहा था कि शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से अथवा शुद्ध निश्चयनय का जो विषय परमपारिणामिकभाव एकरूप कहा था, उसकी अपेक्षा से जीव में गुणस्थान अथवा मार्गणास्थान के भेद नहीं हैं। कारण कि उसमें किसी कर्म की अपेक्षा नहीं होती है। औदयिकभाव में कर्म के उदय की, उपशमभाव में कर्म के उपशम की, क्षयोपशम भाव में कर्म के क्षयोपशम की, क्षायिकभाव में कर्म के क्षय की—ऐसे चार भाव कर्म के सद्भाव अथवा अभाव की अपेक्षा रखते हैं। किंतु परमपारिणामिकभाव में कर्म के सद्भाव की अथवा अभाव की अपेक्षा नहीं रहती है, उसको परमपारिणामिकभाव कहा।

केवलज्ञान भी परमपारिणामिकभाव नहीं है, परमभाव की अपेक्षा से जीव गुणस्थान तथा मार्गणास्थान के भेदों से रहित है। अब इस ग्यारहवीं मार्गणा में भव्य और अभव्य ऐसे दो भेद आप कहते हो—और भव्य, अभव्य तो पारिणामिकभाव हैं। ये दोनों कर्म के सद्भाव अथवा अभाव की अपेक्षा नहीं रखते हैं। भव्यत्व-अभव्यत्व उदयभाव नहीं, उपशमभाव नहीं, क्षयोपशमभाव नहीं, उसीप्रकार क्षायिकभाव नहीं; क्योंकि उसमें किसी कर्मादि की अपेक्षा नहीं रहती। भव्यजीव का भव्यत्व स्वभाव अनादि से है और अभव्य जीव का अभव्यत्व स्वभाव अनादि से है, वह पारिणामिकभाव है और पारिणामिकभाव शुद्धनय का विषय है। तब उन भेदों को मार्गणा में क्यों कहा? क्योंकि मार्गणा तो अशुद्धनय का विषय है। परमपारिणामिकभाव में तो मार्गणास्थान नहीं है। तब फिर भव्यत्व, अभव्यत्व जो पारिणामिकभाव है, उसको मार्गणा में क्यों कहा? इसप्रकार कहने से विरोध आता है।''

इसप्रकार शिष्य शंका करता है। यहाँ शिष्य समझने की तीव्र आकांक्षावाला है, उसकी शंका का समाधन करते हैं।

पहले जो मार्गणास्थानादि का निषेध करने में आया था, वह शुद्धचैतन्य की अपेक्षा से

किया था। अंतर्मुखी दृष्टि से देखने से तो त्रिकालस्वभाव में भव्य-अभव्य के भेद नहीं हैं, वह एकरूप है, वह बंध का कारण नहीं—किंतु धर्म का कारण है।

देखो! यह बात समझना चाहे तो वह समझ सकता है। परमपारिणामिकभाव कहो, चैतन्य कहो, एक ही है-और यह सम्यग्दर्शन का ध्येय है। स्वयं के स्वभाव का विश्वास होना चाहिये। नित्यनिगोद के किसी जीव ने कभी व्यवहारराशि में लट, चींटी अथवा मनुष्यपना प्राप्त नहीं किया—ऐसा कोई जीव कषाय मंद कर मनुष्यपना प्राप्त करता है और आठ वर्ष की आयु में भगवान के निकट जाकर धर्मदेशना सुनी, क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त किया, चारित्र अंगीकारकर केवलज्ञान और सिद्ध अवस्था प्राप्त करता है। देखिये! सिद्ध और निगोद अवस्था को—केवल आठ वर्ष का अंतराल है, वह किससे है?

चिदानंद एकरूप ध्रुव मेरा स्वभाव है, ऐसे परमभाव के आश्रय से धर्मदशा प्रकट होती है। यह स्वभाव केवलज्ञान की पर्यायरूप नहीं है, किंतु केवलज्ञान का कारण है, संसार का कारण नहीं है। ऐसे स्वभाव को परमपारिणामिकभाव कहो, द्रव्यदृष्टि का विषय कहो, कारणपरमात्मा कहो, शुद्धभाव कहो, यह सब एक ही है। आठ वर्ष का बालक जिसने धर्म का अक्षर नहीं सुना हो, वह समवसरण में वाणी सुनकर विचार करता है कि अहो! एकरूप चैतन्यस्वभाव, यही मेरा स्वभाव है। वह कुलांट खाता है (परिणमन बदलता है), सम्यग्दर्शन प्राप्त कर, चारित्र प्राप्त कर, केवलज्ञान और सिद्ध अवस्था प्राप्त करता है।

यहाँ तो जिस जीव ने अनंत भव किये और इस जीवन में ६० वर्ष होने को आये तब भी 'यह बात समझ में नहीं आती'—ऐसा कहे उसको धर्म की रुचि नहीं है, ऐसा लगता है। वह यदि समझना चाहे तो समझ सकता है।

यहाँ शिष्य को समझाते हैं कि एकरूप शुद्धस्वभाव की अपेक्षा से तो स्वभाव में मार्गणा भी नहीं है। मार्गणा में भव्य-अभव्य कहा है, वह अशुद्ध पारिणामिकभाव से कहा है। क्योंकि जो कुछ भेद होते हैं, वह अशुद्धनय का विषय है। इसलिये नयभेद से यह कथन संगत है, योग्य है, किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

देखिये, यह समझने की क्रिया है। मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान बदलकर सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान होता है, यही धर्म की क्रिया है। जगत को जड़ की क्रिया और राग की क्रिया समझ में आती है।

समयसार में कहते हैं कि तू परमात्मा होने की शक्तिवाला है। जो परमात्मा हो गये, उनसे परमात्मा बनने को नहीं कहा जाता। किंतु जो परमात्मदशारूप नहीं हुये, उनसे कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मैं सिद्ध, और तू भी सिद्ध; निकाल दे संसार को हृदय से, हम स्त्री-बाल-बच्चेवाले, हम रागी, पंचम काल में सिद्धत्व प्राप्त नहीं होता—ये सब बातें निकाल दे, तू एक बार 'हाँ' तो कह कि मैं सिद्ध हूँ, वस्तुस्वभाव से त्रिकाल शुद्ध हूँ। ऐसे सिद्ध की 'हाँ' करनेवाले को यह बात समझ में न आये (कि मैं सिद्ध समान हूँ) ऐसा नहीं बनता।

शिवभूमि मुनि को विशेष ज्ञान का क्षयोपशम नहीं था, किंतु मैं शुद्धचैतन्य हूँ और यह शुभाशुभ परिणाम मेरे से भिन्न हैं, ऐसी भावभासना बराबर थी।

यहाँ कहते हैं कि शुद्धनिश्चयनय से एकरूप शुद्धचैतन्यभाव में मार्गणा नहीं है, यह बात बराबर (ठीक) है। इस बात के आधार पर भव्यत्व और अभव्यत्व जो कि पारिणामिक भाव के भेद हैं, उसको अशुद्धनय से मार्गणास्थान में कहा है। इसप्रकार नयभेद से बात संगत है, विरोध नहीं आता। इसप्रकार शिष्य के प्रश्न का समाधान किया।

जैसे त्रिकाली स्वभाव में कर्म की अपेक्षा नहीं है, वैसे भव्यत्व और अभव्यत्व भाव में कर्म की अपेक्षा नहीं है। भव्यत्व और अभव्यत्व पारिणामिक भाव है। कोई जीव दया-दानादि के परिणाम करे, मुनि हो जाये, और शुक्ललेश्या के परिणाम करे और देवगति प्राप्त करे; इसलिये वह भव्य है—ऐसा नहीं है।

भव्यत्व भव्यजीव का अनादि-अनंत गुण है, और अभव्यत्व अभव्यजीव का अनादि-अनंत गुण है। जो भव्यजीव संसार का अंत करता है, उसकी अपेक्षा से उसके लिये संसार अनादि-सांत है, और कोई अंत न करे उसके लिये संसार अनादि-अनंत है। फिर भी उसका स्वभाव तो भव्यत्व ही है। जैसे कोई लकड़ी कभी भी पानी में न गयी हो और वह जल जाये, तब भी उस लकड़ी का स्वभाव तैरने का है, वह नष्ट नहीं हो जाता है। उसीप्रकार कोई भव्यजीव निगोद में से कभी न निकले, तब भी उसका भव्यत्व स्वभाव नष्ट नहीं हो जाता है। और अभव्य का स्वभाव वठर मूँग जैसा है, वह कभी भी तिरने के योग्य नहीं होता है। उस स्वभाव को किसी कर्म की अपेक्षा नहीं होती है। औदयिक भाव को कर्म के उदय की अपेक्षा, उपशम भाव को कर्म के उपशम की अपेक्षा, क्षायोपशमिक भाव को कर्म के क्षयोपशम की

अपेक्षा, और क्षायिकभाव को कर्म के क्षय की अपेक्षा होती है—इसलिये ये चारों भाव पारिणामिकभाव नहीं है। एकरूप ध्रुवस्वभाव पारिणामिकभाव है। इसमें कर्म की अपेक्षा नहीं होती है। इसीप्रकार भव्यत्व-अभव्यत्व भाव में कर्म की अपेक्षा नहीं होती है, इसलिये वह भी पारिणामिकभाव है।

अब यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि आपने पहिले शुद्ध पारिणामिकभाव में मार्गणा आदि नहीं हैं—ऐसा कहा था। तब फिर मार्गणा में पारिणामिकभाव में भव्यत्व-अभव्यत्व क्यों कहा?

उसका समाधान—भव्यत्व-अभव्यत्व पारिणामिकभाव कहा है, वह अशुद्धनय से कहा है; और पारिणामिकभाव में मार्गणा आदि नहीं हैं, ऐसा शुद्धनय से कहा है। और नय से यह बात सुसंगत है। अशुद्धदृष्टि में भेद होते हैं, और शुद्धदृष्टि में भेद नहीं होते, यह बात ठीक है। अब कदाचित् ऐसा कहो कि शुद्ध-अशुद्ध भेद से पारिणामिकभाव दो प्रकार के नहीं हैं; परंतु पारिणामिकभाव शुद्ध ही है, तब यह बात योग्य नहीं है।

यहाँ शिष्य कहता है कि हमने तो एक ही भेद जाना है, क्योंकि सर्वजीव हैं सिद्धसम। इसमें पारिणामिकभाव में अमुक जीव, ऐसा भेद नहीं होता है। निगोद से सिद्ध तक सर्व ज्ञायकमूर्ति हैं। स्वभाव से शुद्धता कभी नष्ट नहीं हुई। निगोद के जीव तथा अज्ञानी जीव को स्वभाव का भान नहीं है, किंतु शक्ति से तो सब सिद्धस्वरूप हैं। और फिर औपशमिक, औदयिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक के भेद कहो तो यह ठीक है। किंतु पारिणामिकभाव में हमको भेद नहीं दिखता है।

समाधान—तू कहता है, वह ठीक नहीं है। जैसे औदयिक आदि के भेद हैं वैसे पारिणामिकभाव के भी भेद होते हैं। जोकि सामान्यरूप से उत्सर्ग व्याख्यान से पारिणामिकभाव शुद्ध है। मुख्यमार्ग से आत्मा शुद्धचैतन्य त्रिकाली एकरूप है, फिर भी अपवाद व्याख्यान (कथन) से अशुद्ध पारिणामिकभाव भी है। इस कारण से तत्त्वार्थसूत्र (अध्याय २-सूत्र ७) में जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व ऐसे भेद से पारिणामिकभाव के तीन भेद कहे हैं। अब इनमें चैतन्यरूप जीवत्व है। वह अविनाशी होने से शुद्धद्रव्य के आश्रय से हैं, इस कारण से उसको शुद्धद्रव्यार्थिक नाम का शुद्ध पारिणामिकभाव कहते हैं।

शुद्ध चैतन्यरूप जीवत्व स्वयंसिद्ध है, नवीन प्रकट होता है—ऐसी बात नहीं है। शुद्ध चैतन्यरूप जीवत्व अविनाशी है, इसलिये वह शुद्धद्रव्य के आश्रय से है। शुद्ध चैतन्यस्वभाव अविनाशी गुण है। किसी भी जीव के जीवत्वपने का कभी नाश नहीं होता है। अविनाशी होने से वह गुण शुद्धद्रव्य के आश्रय से है, इसलिये वह पारिणामिकभाव है। इस कारण से शुद्धद्रव्यार्थिक नामक शुद्धद्रव्य को लक्ष्य में लेनेवाला शुद्धनिश्चय है। यह सम्यग्दर्शन का ध्येय अथवा विषय है, इसको समझने में वीर्य (शक्ति) स्वयं के स्वभाव की ओर झुकता है। अज्ञानी बिना समझे व्रत-उपवासादि करता है, उसमें वीर्य (शक्ति) बलवान नहीं होता है। यहाँ अविनाशी जीवत्वभाव बतलाया है। **(क्रमशः)**

नवीन विश्रांतिगृह बनाने का निर्णय

सोनगढ़—विगत कुछ वर्षों से शिक्षण-शिविर में आनेवाले आत्मार्थी बंधुओं की संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है। अतः उनके ठहरने के लिये समुचित आवास की कमी निरंतर अनुभव की जा रही थी।

श्री हंसमुखभाई पोपटलाल बोरा एवं उनके परिवारवालों ने स्व० श्री पोपटलाल मोहनलाल बोरा की स्मृति में तदर्थ दो लाख इक्यावन हजार रुपये प्रदान किये। फलस्वरूप 'पोपटलाल मोहनलाल बोरा विश्रांतिगृह' निर्माण किये जाने का निर्णय लिया गया है। श्री सेठ पूरणचंदजी गोदीका ने अपनी १००×२०० वर्ग गज की भूमि इस पुनीत कार्य के लिये प्रदान करने की घोषणा की है।

पाँच-पाँच हजार रुपये की अनेक राशियाँ भी एक-एक प्लाट बनाने हेतु प्राप्त हुईं। यद्यपि एक प्लाट में १५ हजार रुपये का खर्च आवेगा, फिर भी पाँच हजार रुपये देनेवाले बंधु को वर्ष में ३ माह उक्त प्लाट में रहने की सुविधा उपलब्ध होगी। शेष समय वह प्लाट अन्य आत्मार्थियों के उपयोग में आवेगा।

यह संपत्ति ट्रस्ट की रहेगी। इसके संरक्षक श्री लालचंदभाई मोदी एवं ट्रस्टी श्री हंसमुखभाई बोरा, श्री खीमचंदभाई शेठ एवं श्री बाबूभाई मेहता होंगे।

जो भाई इस कार्य में सहभागी बनना चाहते हैं, वे पाँच हजार रुपये की राशि प्रदान करके अपना स्थान शीघ्र ही सुरक्षित करा लें, क्योंकि स्थान सीमित हैं।

—बाबूभाई मेहता

ज्ञान-गोष्ठी

सायंकालीन तत्त्वचर्चा के समय विभिन्न मुमुक्षुओं द्वारा पूज्य स्वामीजी से किये गये प्रश्न और स्वामीजी द्वारा दिये गये उत्तर।

प्रश्न– बंध का कारण परद्रव्य और मोक्ष का कारण स्वद्रव्य है न ?

उत्तर– बंध का कारण परद्रव्य नहीं है, क्योंकि परद्रव्य तो सदा विद्यमान है। यदि वह बंध का कारण हो तो निर्बंध दशा कभी प्राप्त नहीं हो सकती। वास्तव में परद्रव्य के प्रति जो स्वामित्व भाव है, वह बंध का कारण है और स्वद्रव्य भी अनादि से ही है तथापि मोक्ष आजतक हुआ नहीं, अतः स्वद्रव्य में स्वामित्व भाव होना वह मोक्ष का कारण है। स्वद्रव्य में स्वामित्व हो जाने पर यद्यपि परद्रव्य विद्यमान है तथापि वह बंध का कारण है नहीं, उससे बंध होता नहीं। अतः सिद्ध हुआ कि स्वद्रव्य में स्वामित्व मोक्ष का और परद्रव्य में स्वामित्व बंध का कारण है।

प्रश्न– आत्मा पर में कुछ फेरफार नहीं कर सकता यह बात तो ठीक है, परंतु अपनी पर्यायों में तो फेरफार कर ही सकता है—इसका अस्वीकार क्यों ?

उत्तर– अरे भाई ! जहाँ द्रव्य का निश्चय किया वहाँ वर्तमान पर्याय स्वयं द्रव्य में तन्मय हो गयी, फिर उसे क्या फेरना ? मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से आती है ऐसा निर्णय करते ही पर्याय द्रव्य में अंतर्मुख हो गयी, अतः वह पर्याय अब क्रमसर निर्मल ही हुआ करती है और शांति वृद्धिंगत होती जाती है। इसप्रकार जहाँ पर्याय स्वयं द्रव्य में अंतर्मग्न हुई वहाँ उसे फेरना रहा ही कहाँ है ? वह पर्याय तो स्वयं द्रव्य के वश में आ ही गयी है। पर्याय आवेगी कहाँ से ? द्रव्य में से। अतः जहाँ समूचे द्रव्य को काबू में ले लिया (श्रद्धा-ज्ञान में स्वीकार कर लिया), वहाँ पर्यायें काबू में आ ही गयी अर्थात् द्रव्य के आश्रय से पर्यायें सम्यक् निर्मल ही होने लगीं। जहाँ स्वभाव का निश्चय हुआ वहीं मिथ्याज्ञान विलीन होकर सम्यग्ज्ञान उद्भूत हुआ—मिथ्याश्रद्धा पलटकर सम्यक्श्रद्धा हुई।

इसप्रकार निर्मल पर्याय होने लगीं, वह भी वस्तु का धर्म है। वस्तुस्वभाव फिरा

नहीं और पर्यायों की क्रमधारा भी टूटी नहीं। द्रव्य के ऐसे स्वभाव का स्वीकार करते ही पर्याय की निर्मल धारा प्रारंभ हो गयी ओर ज्ञानादि का अनंत पुरुषार्थ उसमें आ ही गया।

स्व अथवा पर किसी द्रव्य को, किसी गुण को या उसकी किसी पर्याय को फेरने की बुद्धि जहाँ नहीं रही वहाँ ज्ञान, ज्ञान में ही ठहर गया अर्थात् वीतरागी ज्ञाताभाव ही रह गया—वहाँ अल्पकाल में मुक्ति होगी ही। बस! ज्ञान में ज्ञाता-दृष्टापना रहना ही स्वरूप है, यही सबका सार है। अंतर की यह बात जिसके चित्त में न आवे उसको पर में या पर्याय में फेरफार करने की बुद्धि होती है। ज्ञाताभाव को चूककर कुछ भी फेरफार करने की बुद्धि, वही मिथ्यात्व है।

प्रश्न- क्या इंद्रियज्ञान आत्मज्ञान का कारण नहीं है ?

उत्तर- ग्यारह अंग और नौ पूर्व की लब्धिवाला ज्ञान भी खंड-खंड ज्ञान है, आत्मा का ज्ञान नहीं। आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानमय है, इंद्रियज्ञान वह आत्मा नहीं। आँख से हजारों शास्त्र वाँचे और कान से सुने वह सब इन्द्रियज्ञान है, आत्मज्ञान नहीं। आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान से जाननेवाला है, इंद्रियज्ञान से जाने वह आत्मा नहीं। आत्मा को जानने पर जो आनंद का स्वाद आता है, वह स्वाद इंद्रियज्ञान से नहीं आता; अत: इंद्रियज्ञान आत्मा नहीं है।

प्रश्न- पंचास्तिकाय की गाथा १७२ में ऐसा कहा कि भिन्न साधन-साध्यरूप व्यवहार को न माने तो मिथ्यादृष्टि है—इसका अर्थ स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर- साधक अवस्था में शुद्धता के अंश के साथ भूमिका प्रमाण शुभरग भी आता है, उसका ज्ञान कराया है तथा उपचार से उस राग को व्यवहार साधन कहा है, किंतु उस व्यवहार के आश्रय से निश्चय की प्राप्ति होती है, ऐसा उसका आशय नहीं है। चूँकि साधक को दोनोां साधन एक साथ वर्तते हैं, अत: उनका ज्ञान कराने के लिये वह कथन है। साधक को यह दोनों एक साथ वर्तते हैं—ऐसा जो न माने तो वह मिथ्यादृष्टि है-ऐसा समझना। फिर भी रागादि व्यवहार-साधन के अवलंबन से निश्चय-साधन प्राप्त हो जायेगा—ऐसा समझना भूल है।

प्रश्न- उपयोग का पर से हनन नहीं होता इसका क्या अर्थ ?

उत्तर- प्रवचनसार गाथा १७२ में अलिंगग्रहण के नौवें बोल में उपयोग पर से हनन नहीं

होता—ऐसी बात आयी है। उसमें पर से तो उपयोग का हनन अर्थात् नाश होता नहीं। मुनि को चारित्रदशा होती है और वे स्वर्ग में जाते हैं, वहाँ चारित्रदशा तो नाश को प्राप्त हो जाती है तो भी स्व के लक्ष से जो उपयोग हुआ है, वह नाश नहीं होता। स्व के लक्ष से उपयोग हुआ है वह तो अप्रतिहत हुआ है–नाश नहीं होता।

प्रश्न– सम्यग्दर्शन होने के बाद तो साधु–संन्यासी बनना पड़ता है न ?

उत्तर– सम्यग्दर्शन तो प्रथम करे, पश्चात् साधु कैसे होते हैं, इसकी खबर पड़े। सम्यग्दर्शन के बाद अंतरंग में आनंद की धारा प्रवाहित होने लगती है, अतीन्द्रिय आनंद आने लगता है। जैसे समुद्र में पानी की भरती आती है, उसीप्रकार मुनि दशा में अंदर आनंद की भरती आती है। उसी का नाम मुनिदशा है।

प्रश्न– द्वादशांग का सार क्या है ?

उत्तर– अनंत केवली, मुनिराज और संत ऐसा कहते हैं कि स्वद्रव्य का आश्रय करो और परद्रव्य का आश्रय छोड़ो। स्वभाव में रत हो और परभाव से विरक्त। यही बारह अंग का सार है।

●●

अपनी शक्ति को पहिचान....

अरे भगवान! तेरे आत्मा में तो ऐसी शक्ति है कि राग को तोड़कर स्वयं केवलज्ञान का पात्र हो; उस शक्ति को पहिचान। अज्ञानी बारंबार (पर्याय-पर्याय में) अपने स्वभाव को भूलकर मिथ्यात्वभाव से विकार को ही प्राप्त करता है; धर्मात्माज्ञानी तो अपने स्वभाव को पहिचानकर उसमें से बारंबार (क्षण-क्षण पर्याय-पर्याय में) निर्मलभाव को ही लेते हैं। निर्मलपर्याय को देने की तथा उसी को लेने की आत्मा की संप्रदान शक्ति है; परवस्तु का कुछ लेने की या उसे कुछ देने की शक्ति आत्मा में, द्रव्य में, गुण में या पर्याय में नहीं है। तथा राग का देने या लेनेवाला भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। पर्याय में जो क्षणिक रागादि होते हैं, उन्हीं को ग्रहण करनेवाला अपने को माने तो वह जीव अपने स्वभाव में भरी हुई केवलज्ञान लेने की महान पात्रता को नहीं जानता।

—पूज्य स्वामीजी

समाचार दर्शन

शिक्षण-शिविर सानंद संपन्न

सोनगढ़ : प्रतिवर्षानुसार इस वर्ष भी सोनगढ़ में १५ अगस्त से ३ सितम्बर ७८ तक बीस दिवसीय शिक्षण-शिविर अनेक उपलब्धियों के साथ सानंद संपन्न हुआ। इस शिक्षण-शिविर में भारतवर्ष के लगभग सभी प्रांतों के प्रमुख नगरों—भोपाल, जबलपुर, इंदौर, उज्जैन, ग्वालियर, गुना, अशोकनगर, शिवपुरी, विदिशा, मंदसौर, सागर, कानपुर, सहारनपुर, आगरा, ललितपुर, बड़ौत, अलीगंज, इटावा, जयपुर, उदयपुर, अजमेर, कोटा, बारां, झालावाड़, बड़ौदा, अहमदाबाद, राजकोट, भावनगर, बम्बई, नागपुर, जलगाँव, मलकापुर, बंगलौर, दिल्ली, कलकत्ता, मद्रास, फतेपुर, तलोद, दमोह, हैदराबाद आदि २०० नगरों से लगभग १२०० मुमुक्षु भाई-बहन पधारे।

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के प्रातः तथा मध्याह्न के प्रवचनों एवं सायंकालीन तत्त्वचर्चा के अतिरिक्त विद्वद्वर्य पंडित रामजीभाई, पंडित लालचंदभाई मोदी, पंडित खीमचंदभाई, पंडित फूलचंदजी सिद्धांतशास्त्री, पंडित बाबूभाई मेहता, डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल, श्री युगलजी एम.ए., पंडित नेमीचंदजी पाटनी, पंडित ज्ञानचंदजी, पंडित चिमनभाई, पंडित नवलभाई आदि विद्वानों के सारगर्भित प्रवचनों एवं कक्षाओं से आगंतुक मुमुक्षुओं को अच्छा लाभ मिला। इस अवसर पर ली गयी कक्षाओं में मोक्षमार्गप्रकाशक, छहढाला, द्रव्यसंग्रह, जैनसिद्धांत प्रश्नोत्तर-माला आदि ग्रंथों के आधार पर विभिन्न विषयों का अध्ययन कराया गया।

इसी मध्य भादवा बदी दोज दिनांक २०-८-७८ को पूज्य बहनश्री चंपाबेन का जन्मदिवस विभिन्न कार्यक्रमों के साथ उत्साहपूर्वक मनाया गया। इस अवसर पर घाटकोपर भजनमंडली द्वारा आध्यात्मिक रस से ओत-प्रोत रोचक कार्यक्रम प्रस्तुत किये गये, जिनकी सभी ने सराहना की। जन्मदिन की खुशहाली में श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ को ज्ञान प्रचार के लिये लगभग ७५ हजार रुपये का दान मुमुक्षु बन्धुओं से प्राप्त हुआ।

इस प्रसंग पर एक मुमुक्षु भाई द्वारा साहित्य विक्रय के प्रोत्साहन एवं आत्मधर्म के प्रसार हेतु समस्त साहित्य तथा आत्मधर्म आधे मूल्य में उपलब्ध कराया गया। फलस्वरूप लगभग २५००० रुपये का साहित्य बिका तथा आत्मधर्म के ७०० ग्राहक बने।

प्रवचनकार प्रशिक्षण शिविर संपन्न

सोनगढ़ : उन नवीन विद्वानों के, जो अच्छे तत्त्वाभ्यासी हैं और अभिव्यक्ति की क्षमता भी जिनमें है, मार्गदर्शन हेतु गतवर्ष से यह योजना प्रारंभ की गयी है–जिसके अच्छे परिणाम सामने आ रहे हैं। इस शिविर में आगंतुक प्रवचनकारों को पंडित लालचंदभाई मोदी, पंडित फूलचंदजी सिद्धांत शास्त्री, पंडित बाबूभाई मेहता, श्री युगलजी, डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल, पंडित नेमिचंदजी पाटनी द्वारा तत्त्वार्थसूत्र, नयचक्र, दशधर्म, समयसार, मोक्षमार्गप्रकाशक, आदि के आधारपर वक्ता–श्रोता के स्वरूप तथा चार अनुयोगों की पद्धति आदि के विषद विश्लेषण द्वारा मार्गदर्शन दिया गया।

श्री टोडरमल दि० जैन सिद्धांत महाविद्यालय के पोजीशन-प्राप्त छात्रों को पुरस्कार

सोनगढ़ : दिनांक २९–८–७८ को पूज्य गुरुदेवश्री के कर–कमलों द्वारा श्री टोडरमल दि० जैन सिद्धांत महाविद्यालय, जयपुर के छात्र सर्वश्री अभयकुमार, श्रेयांसकुमार तथा राकेशकुमार जैन को राजस्थान माध्यमिक शिक्षा बोर्ड की उपाध्याय परीक्षा में क्रमशः प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय स्थान प्राप्त करने के उपलक्ष्य में सेठ श्री रतनलालजी गंगवाल, कलकत्ता द्वारा प्रदत्त क्रमशः १५००, ९०० तथा ६०० रुपये की स्कॉलर–राशि तथा साहित्य प्रदान कर पुरस्कृत किया गया।

वीतराग-विज्ञान पाठशालाओं की स्थापना

अमायन (म०प्र०) : यहाँ विगत दिनों से जो पाठशाला बंद थी वह पुनः चालू की गयी। इसमें श्री वीतराग–विज्ञान विद्यापीठ परीक्षाबोर्ड जयपुर द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम पढ़ाया जाता है। बालक बड़ी रुचि और उत्साह से पाठशाला में पढ़ने आते हैं।

— बेनीराम जैन, एम०ए०, बी०एड०

शिवपुरी (म०प्र०) : अ०भा० जैन युवा फैडरेशन की स्थानीय शाखा द्वारा श्री महावीर जिनालय, महल कालोनी में दिनांक १–८–७८ से नवीन पाठशाला की स्थापना की गयी।

—आजादकुमार जैन

वीतराग-विज्ञान पाठशालाओं की निरीक्षण रिपोर्ट

भारतवर्षीय वीतराग–विज्ञान पाठशाला समिति, जयपुर के ऑनरेरी निरीक्षक श्री

मांगीलालजी अग्रवाल 'अगर', एम०ए०, बी०एड० उदयपुर ने भीलवाड़ा में चल रही श्रीमती रूपबाई एजनबाई दि० जैन कन्या पाठशाला का निरीक्षण किया। इस शाला में ६० छात्र-छात्राऐं अध्ययन करते हैं। सभी को विषय का पर्याप्त ज्ञान था। शाला का कार्य एवं व्यवस्था संतोषजनक पायी गयी। **— मंत्री, अ०वी० वि० पाठशाला समिति**

पंडित ज्ञानचंदजी विदिशा द्वारा धर्मप्रभावना

दिनांक ३-८-७८ से १०-८-७८ तक पंडित ज्ञानचंदजी गुना, अशोकनगर, राघौगढ़, कुंभराज आदि स्थानों पर गये। यहाँ तीनों समय आपके समयसार, मोक्षमार्गप्रकाशक तथा छहढाला पर मार्मिक प्रवचन चलते थे। इन नगरों से श्री कुन्दकुन्द कहान तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट को दूसरी किश्त के रूप में ६२,३३३.०० रुपये की पूर्व घोषित नकद राशि प्राप्त हुई। साथ ही ८,०५६.०० रुपये नये देने के वचन भी प्राप्त हुए। **— माणिकलाल आर. गाँधी**

अ० भा० जैन युवा फैडरेशन के बढ़ते चरण

स्थान-स्थान से युवा फैडरेशन की शाखा खोलने हेतु युवा साथियों के पत्र प्राप्त हो रहे हैं। अभी हाल में इंदौर, खनियाधाना, छिंदवाड़ा, बकस्वाहा, शाहगढ़, विदिशा आदि स्थानों पर फैडरेशन की शाखाऐं स्थापित की गयीं। **— अखिल बंसल, महामंत्री**

द्वितीय स्थान प्राप्त

जयपुर : आचार्य अमृतचंद्र और उनका पुरुषार्थसिद्धयुपाय लघु शोध-प्रबंध की लेखिका श्रीमती शुद्धात्मप्रभा ने एम.ए. संस्कृत परीक्षा में राजस्थान यूनिवर्सिटी से ७८ प्रतिशत अंक अर्जित कर द्वितीय स्थान प्राप्त किया है। प्रथम आने वाले छात्र से उनके ९०० अंकों में केवल ६ अंक की कमी रही। बधाई! **— प्रबंध संपादक**

देहली : स्थानीय समाज के विशेष आग्रह पर दिनांक १२-८-७८ को श्री लालचंदभाई मोदी दो दिवस के लिये जयपुर से जाते हुए यहाँ पधारे। दोनों दिन समयसार पर आपके सारगर्भित प्रवचन हुए। आपके प्रवचनों से समाज में अच्छी धर्मप्रभावना हुई।

— रविचंद जैन, मंत्री

कारंजा (महाराष्ट्र) : स्थानीय श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रम का हीरक जयंती महोत्सव मनाने का निश्चित हुआ है। सभी स्नातक अपनी संक्षिप्त जानकारी शीघ्र भेजें।

— अशोककुमार चंवरे

गुना (म.प्र.) : स्थानीय दि० जैन खण्डेलवाल मंदिर में दिनांक २४-७-७८ से सिद्धचक्रमंडल विधान का आयोजन पंडित गेंदालालजी शास्त्री के तत्त्वावधान में सानंद संपन्न हुआ। प्रातः समयसार कलश पर तथा रात्रि में परमात्मप्रकाश पर आपके तात्त्विक प्रवचन हुए।

— केवलचंद पाण्ड्या

नकुड (उ.प्र.) : श्री बालब्रह्मचारी लाभानंदजी ५ दिवस के लिये यहाँ पधारे। आपके आध्यात्मिक प्रवचनों से स्थानीय समाज ने पूरा लाभ उठाया। श्री भक्तामर पूजन-विधान का भी आयोजन हुआ।

— विजेन्द्रकुमार जैन 'संत'

भीलवाड़ा (राज.) : श्री दि. जैन अजमेरी की गोठ बड़े मंदिर में तीन लोक मंडल विधान का दिनांक १३-७-७८ से १-८-७८ तक भव्य आयोजन किया गया। इस अवसर पर पंडित रंगलालजी कुरावड़ वालों के ५ दिन तक प्रवचन हुए। अन्य विद्वानों के प्रवचन का लाभ भी मिला।

— निहाल अजमेरा, मंत्री

आवश्यकता है : एक ऐसे विद्वान की जो शास्त्र-प्रकाशन, छपाई तथा प्रूफ रीडिंग का कार्य सम्हाल सके। हिंदी-गुजराती का अनुवाद करनेवाले को प्राथमिकता दी जावेगी। वेतन योग्यतानुसार।

— मंत्री, श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट,
६०२, कृष्णनगर, भावनगर (गुजरात) ३६४००१

कहाँ-कौन ?

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ के पास अनेकानेक नगरों से पूर्यषणपर्व में प्रवचनार्थ भेजने के लिये आग्रहपूर्व आमंत्रण आए, पर विद्वानों की कमी के कारण सभी स्थानों पर विद्वान भेजना संभव नहीं हो सका है। जहाँ विद्वान भेजे गये हैं, उनमें से ९५ स्थानों व विद्वानों के नाम निम्न प्रकार हैं:—

अहमदाबाद-पंडित लालचंदभाई मोदी, बम्बई; **फतेपुरमोटा** - पंडित बाबूभाई मेहता, फतेपुर मोटा; **अजमेर** - डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल, जयपुर; **देहली**- पंडित नेमीचंदजी पाटनी, आगरा; **मद्रास** - पंडित हिम्मतभाई जोबालिया, सोनगढ़; **कलकत्ता** - पंडित ज्ञानचंदजी, विदिशा; **एटा** - पंडित रतनचंदजी शास्त्री, विदिशा; **बड़ौदा** - पंडित नेमीचंद वेणीचंद गाँधी, बम्बई; **गुना** - पंडित चिमनलाल ताराचंद कामदार, सोनगढ़;

भोपाल – पंडित उत्तमचंदजी, सिवनी; **बम्बई (जवेरी बाजार)** – पंडित नवलभाई जे० शाह, सोनगढ़; **बम्बई (भूलेश्वर)** – पंडित अभयकुमारजी जैन, जयपुर; **बम्बई (घाटकोपर)** – पंडित डायाभाई सी० मेहता, अहमदाबाद; **बम्बई (मलाड)** – पंडित प्राणलाल पुरुषोत्तमदास कामदार, बम्बई; **खुरई** – पंडित धन्नालालजी, ग्वालियर; **मेरठ** – पंडित कन्नूभाई, दाहोद; **फिरोजाबाद** – पंडित जवाहरलालजी जैन, विदिशा; **करहल** – पंडित रामकिशोरजी, कोटा; **सागर** – पंडित सुशीलकुमारजी, राघौगढ़; **धरणगाँव** – पंडित मधुरकरजी, जलगाँव; **जयपुर** – ब्रह्मचारी पंडित हेमचंद्रजी 'हेम', भोपाल; **तलोद** – पंडित जतीशकुमारजी, जयपुर; **शोलापुर** – ब्रह्मचारी पंडित अभिनंदनकुमारजी, जयपुर; **कोटा** – पंडित शिखरचंदजी, बड़ौत; **अम्बाह** – पंडित लालजीरामजी, विदिशा; **जलगाँव** – पंडित रमेशचंदजी जैन, मलकापुर; **चंदेरी** – पंडित प्रदीपकुमारजी, झांझरी, उज्जैन; **मौह** – पंडित कस्तूरचंदजी जैन, बेगमगंज; **दाहोद** – पंडित अमोलकचंदजी 'बंधु', अशोकनगर; **शाहगढ़** – पंडित धर्मचंदजी जैन, बड़ौत; **खनियाधाना** – पंडित शान्तिकुमारजी, मौ; **सीहोर** – पंडित कैलाशचंदजी जैन, अशोकनगर; **बकस्वाहा** – पंडित चंपालालजी पटवारी, ललितपुर; **बीना** – पंडित प्रहलादजी जैन, मंदसौर; **झांसी** – पंडित पन्नालालजी जैन, करेली; **छिंदवाडा** – पंडित राजमलजी जैन, भोपाल; **विदिशा** – पंडित मोतीलालजी जैन, आरोन; **खंडवा** – पंडित चन्दूलाल कोदरलाल मेहता, फतेपुरमोटा; **मुंगावली**– ब्रह्मचारी पंडित झम्मकलालजी जैन, सोनगढ़; **राघौगढ़** – पंडित भानुकुमारजी जैन, जयपुर; **लोहारदा**– पंडित मांगीलालजी जैन, गुना; **हिम्मतनगर** – पंडित विमलचंदजी झांझरी, उज्जैन; **उदयपुर** – पंडित विजयकुमारजी जैन, बरायठा; **सनावद** – पंडित संतोषकुमारजी जैन, जयपुर; **जबलपुर (रांझी)** – पंडित राजकुमारजी जैन, जयपुर; **मंडला** – पंडित नेमीचंदजी सर्राफ, मलकापुर; **आगरा** – पंडित देवीलालजी मेहता, उदयपुर; **आगरा (ताजगंज)** – पंडित मक्खनलालजी, मौ; **उज्जैन** – पंडित कैलाशचंदजी जैन, जयपुर; **रतलाम** – पंडित मणीभाई भोलाभाई, मुनाई; **बम्बई (दादर)** – पंडित सुजानमलजी मोदी, अहमदाबाद; **बांकानेर** – पंडित मनुभाई शेठ, बंगलौर; **भीलवाड़ा** – पंडित रंगलालजी जैन, कुरावड़; **बडवाह** – पंडित रमेशचंदजी जैन, जयपुर; **लकड़वास** – पंडित मांगीलालजी जैन, उदयपुर; **नरवर** – पंडित बाबूलाल टोपीवाले, बीना; **मवई** – पंडित जयकुमारजी जैन, ललितपुर; **जबेरा** – पंडित कपूरचंदजी

जैन, सागर; **गाजियाबाद** – पंडित ताराचंदजी जैन, सागर; **लींबडी** – पंडित जेठालाल एच० दोशी, सिकंदराबाद; **अलवर** – ब्रह्मचारी पंडित हेमराजजी जैन, भोपाल; **मालथौन** – ब्रह्मचारी पंडित बाबूलालजी जैन, बरायठा; **रणासण** – पंडित पूनमचंदजी जैन, हिम्मतनगर; **इटारसी** – पंडित बाबूलालजी जैन, अशोकनगर; **डोंगरगाँव** – पंडित छगनलालजी, लोहारद; **ग्वालियर** – पंडित चिंतामणि जैन, मौ; **हैदराबाद** – डॉ० प्रियंकर जैन, बम्बई; **बोटाद** – पंडित शांतिलाल रेवाशंकर, सोनगढ़; **बांदा** – पंडित लक्ष्मीचंदजी, दिल्ली; **नागपुर** – पंडित केशरीचंदजी 'धवल', कोथली; **कुशलगढ़** – पंडित रमेशचंदजी जैन, इटावा; **कुरावड़** – पंडित महेन्द्रकुमारजी जैन, बरायठा; **देहरादून** – पंडित कैलाशचंदजी, बुलन्दशहर; **ललितपुर** – पंडित प्रकाशचंदजी पांड्या, इँदौर; **कोल्हापुर** – पंडित श्रेयांसकुमारजी बेलोकर, ढसाला; **शिवपुरी** – पंडित ताराचंदजी, खडैरी; **कुरावली** – पंडित ज्ञानचंदजी जैन, करेली; **गढ़ाकोटा** – पंडित आत्मानंदजी, धानपुरा; **मलकापुर** – पंडित धर्मचंदजी जैन, अशोकनगर; **लाखेरी** – पंडित पूरनचंदजी जैन, मौ; **चिरगाँव** – पंडित केवलचंदजी पाण्ड्या, गुना; **जगदलपुर** – पंडित कुंदनलालजी, पथरिया; **आलोट** – पंडित रिखबचंदजी, मंदसौर; **खातेगाँव** – पंडित शुभचंदजी, विदिशा; **बसमत** – पंडित देतापंत लोखंडे, मदखेड़े; **ड़बोक** – पंडित मोतीलालजी जैन, करैली; **भिण्ड** – पंडित कपूरचंदजी केसलीवाले, करेली; **चोंरइ** – पंडित देवेन्द्रकुमरजी जैन, सिंगोड़ी; **वाशीम** –पंडित गोविन्ददासजी जैन, खड़ैरी; **सेलू** – पंडित पूनमचंदजी छाबड़ा, इंदौर; **हरदा** – पंडित सुमनभाई सेठ, बम्बई; **कूंण** –पंडित शिखरचंदजी जैन, विदिशा; **बेगमगंज** – पंडित विनोदकुमारजी, जवेरा; **करेली**–पंडित गंभीरचंदजी वैद्य, अलीगंज; **बंडा** – पंडित नंदकिशोरजी, विदिशा।

आवश्यक सूचना

(१) ग्रीष्मकालीन परीक्षा, १९७८ की लिखित परीक्षा का परिणाम तथा शीतकालीन परीक्षा के प्रमाण–पत्र संबंधित संस्थाओं के केन्द्राध्यक्षों के पास भेजे जा चुके हैं। जिन्हें न मिले हों वे परीक्षा बोर्ड कार्यालय को तुरंत सूचित करें।

(२) पर्यूषण पर्व के अवसर पर जहाँ–जहाँ पाठशालायें खुलें वे परीक्षा बोर्ड की नियमावली नि:शुल्क मंगाने के लिये अपने पूरे पते सहित सूचित करें।

— मंत्री, श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड

पाठकों के पत्र

गुना (म.प्र.) से श्री सुगनचंदजी 'बंधु' लिखते हैं –

आत्मधर्म जून, ७८ का लेख 'जीवन ही बदल डाला' पढ़ा। इसमें स्वामीजी के श्रीमुख से निकला—'भगवान आत्मा! तू तो चैतन्यनूर का पूर है और अपने को भूलकर चतुर्गति में भ्रमण कर रहा है।' यह वाक्य जब मैंने पढ़ा तो रोंगटे खड़े हो गये एवं इतनी शांति मिली कि जिसके लिखने को कोई शब्द ही नहीं। आत्मधर्म दो साल से पढ़ रहा हूँ। इसके आने का बहुत बेचैनी से इंतजार रहता है।

दलपतपुर (म.प्र.) से श्री मोदी विनोदकुमारजी जैन लिखते हैं –

'सम्यक्स्वभाव का अनुभव करो'—पूज्य स्वामीजी का यह प्रवचन जुलाई अंक में पढ़ा। यह लेख अगर स्वर्णाक्षरों में लिखा जाता तो भी कम था। इस लेख को पढ़कर मेरे हृदय में कैसा आनंद आया मैं बता नहीं सकता।

जबलपुर (म.प्र.) से श्रीमती रूपवती 'किरण' लिखती हैं –

यों तो आत्मधर्म के प्रत्येक अंक मर्मस्पर्शी एवं आत्मबोधक होते हैं, परंतु पूज्य गुरुदेव कानजीस्वामी से लिये 'इंटरव्यू' तो अत्यधिक रोचक होते हैं एवं अफवाहों का खंडन करते हैं–जो वर्तमान वातावरण को देखते हुए अत्यंत अनिवार्य है।

संपादकीय लेख दशधर्मों पर क्रमशः आ रहे हैं, उनसे विषय के तह तक पहुँचने में सुविधा होती है। वस्तुतः आत्मधर्म आत्मा को सुखद, पौष्टिक भोजन देने में अग्रणी है।

अशोकनगर (म.प्र.) से श्री चौधरी ताराचंदजी जैन लिखते हैं –

आप आत्मधर्म के माध्यम से इतनी बढ़िया सामग्री दे रहे हैं। सारा आत्मधर्म पढ़ते-पढ़ते आत्मविभोर हो जाता हूँ। अभी आकिंचनधर्म के बारे में विश्लेषण किया है, बहुत कुछ जीवन में उतारनेयोग्य है। आत्मधर्म का हर महीने अधीरता से इंतजार करना पड़ता है।

नेवरा (म.प्र.) से श्री पंडित दामोदरदासजी शास्त्री लिखते हैं –

आत्मधर्म पढ़ने की तीव्र रुचि रहती है। पत्रिका आने का बहुत इंतजार रहता है।

भीलवाड़ा (राज.) से प्रो. पारसमलजी अग्रवाल लिखते हैं –

दशलक्षणधर्म पर आपका विवेचन अत्यंत प्रभावशाली है। दशधर्म पर छपे इन संपादकीय लेखों को संकलित कर पुस्तिकारूप में प्रकाशित करें तो उपयोगी रहेगा।

इंदौर (म.प्र.) से श्री कमलकुमारजी जैन लिखते हैं –

'उत्तम आकिंचन' पर आपका संपादकीय बहुत ही पठनीय बन पड़ा है। दशधर्मों पर आपके संपादकीय लेखों को पुस्तक का रूप मिले तो जैन–अजैन सब के लिये लाभकारी रहेगा।

नोट – दशलक्षणधर्म संबंधी लेख पुस्तकरूप में प्रकाशित हो रहे हैं। उक्त पुस्तक दीपावली तक प्रकाशित हो जावेगी। — प्रबंध संपादक

नए प्रकाशन—

जैनतत्त्व मीमांसा (परिवर्द्धित संस्करण)
पंडित फूलचंदजी सिद्धांतशास्त्री, मूल्य : ६ रुपया
सत्य की खोज भाग १ (गुजराती)
डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल, मूल्य : २ रुपया

प्रबंध संपादक की कलम से

कृपया निम्नलिखित सूचनाओं पर अवश्य ध्यान दें—

(१) आत्मधर्म का अंक समय पर डिस्पैच कर दिये जाने पर भी पाठकों के पास पहुँचने में डाक में समय लग जाता है। अत: अंक न पहुँचने व दूसरी प्रति भिजवाने हेतु तारीख २० के पहले लिखने का कष्ट न करें। इस बावत तारीख २० के बाद लिखे गये पत्रों पर ही उचित कार्यवाही करने का निश्चय किया गया है।

(२) रैपर पर लिखित अपना नया ग्राहक नंबर अवश्य नोट कर लें तथा पत्र–व्यवहार करते समय यह नया ग्राहक नंबर अवश्य लिखें।

(३) कुछ सज्जनों के पत्र पता बदलने हेतु प्राप्त हुए हैं। परंतु ग्राहक नंबर बदल जाने से उनके पते ढूँढ़ने में विलंब हो रहा है। इस माह उनका पता अवश्य बदल दिया जायेगा। आशा है व्यवस्थागत कठिनाई को अनुभव करते हुए इस विलंब के लिये आप हमें क्षमा करेंगे।

बीस वर्ष पहले

[इस स्तंभ में आज से बीस वर्ष पहले आत्मधर्म (हिंदी) मे प्रकाशित महत्त्वपूर्ण अंशों को प्रकाशित किया जाता है।]

आनंदजननी वैराग्य भावना

अहो ! अडोल दिगंबर वृत्ति को धारण करनेवाले, वन में वास करनेवाले और चिदानंदस्वरूप आत्मा में डोलनेवाले मुनिवर जो छठवें-सातवें गुणस्थान में आत्मा के अमृत-कुंड में झूलते हैं, उनका अवतार सफल है। ऐसे संत मुनिवर भी बारह भावनायें भाकर वस्तुस्वरूप का चिंतवन करते हैं।

वस्तुस्वरूप को लक्ष में रखकर वैराग्य की यह बारह भावनायें भाने योग्य हैं। इन भावनाओं को आनंद की जननी कहा है; क्योंकि वस्तुस्वरूप के अनुसार वैराग्य की भावनाओं का चिंतवन करने से चित्त की स्थिरता होकर भव्य जीव को आनंद होता है; इसलिए यह भावनायें 'भविकजन आनंद जननी' हैं और इन्हें सुनते ही भव्य जीवों को मोक्षमार्ग में उत्साह उत्पन्न होता है।

अहा ! तीर्थंकर भी दीक्षा के समय जिनका चिंतवन करें—ऐसी वैराग्यरस में झूलती हुई यह बारह भावनायें भाते हुए किस भव्य को आनंद नहीं होगा ? और किस भव्य को मोक्षमार्ग का उत्साह जागृत नहीं होगा ?

— आत्मधर्म, वर्ष १५, अंक १७१, जुलाई १९५९, कवर पृष्ठ १

Registration. No. RJ-2712

हमारे यहाँ प्राप्त प्रकाशन *

मोक्षशास्त्र	१२-००
समयसार	१२-००
समयसार पद्यानुवाद	०-७०
समयसार कलश टीका	६-००
प्रवचनसार	१२-००
पंचास्तिकाय	७-५०
नियमसार	५-५०
नियमसार पद्यानुवाद	०-४०
अष्टपाहुड़	१०-००
समयसार नाटक	७-५०
समयसार प्रवचन भाग १	६-००
समयसार प्रवचन भाग २	प्रेस में
समयसार प्रवचन भाग ३	५-००
समयसार प्रवचन भाग ४	७-००
आत्मावलोकन	३-००
श्रावकधर्म प्रकाश	३-५०
द्रव्यसंग्रह	१-५०
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-४०
प्रवचन परमागम	२-५०
धर्म की क्रिया	२-००
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग १	१-५०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग २	१-५०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग ३	१-५०
तत्त्वज्ञान तरंगिणी	५-००
अलिंग-ग्रहण प्रवचन	१-६०
वीतराग-विज्ञान भाग ३ (छहढाला पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन)	१-००
बालपोथी भाग १	०-६०
बालपोथी भाग २	प्रेस में
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	४-००
बालबोध पाठमाला भाग १	०-५०
बालबोध पाठमाला भाग २	०-७०
बालबोध पाठमाला भाग ३	०-७०
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग १	०-७०
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग २	१-००
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग ३	१-००
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १	१-२५
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २	१-२५
जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा भाग १ व २	३०-००

मोक्षमार्गप्रकाशक		प्रेस में
पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व		१०-००
तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ		५-००
" " (पॉकेट बुक साइज में हिन्दी में)		२-००
मैं कौन हूँ ?		१-००
तीर्थंकर भगवान महावीर		०-४०
वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर		०-२५
अपने को पहचानिए		०-५०
अर्चना (पूजा संग्रह)		०-४०
मैं ज्ञानानंद स्वभावी हूँ (कैलेंडर)		०-५०
पंडित टोडरमल : जीवन और साहित्य		०-६५
कविवर बनारसीदास : जीवन और साहित्य		०-३०
सत्तास्वरूप		१-७०
सुंदरलेख बालबोध पाठमाला भाग १		प्रेस में
अनेकांत और स्याद्वाद		०-३५
युगपुरुष श्री कानजीस्वामी		१-००
वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका		३-००
सत्य की खोज (भाग १)		२-००
आचार्य अमृतचंद्र और उनका पुरुषार्थसिद्धयुपाय	साधारण :	२-००
	सजिल्द :	३-००

Licence No.
P. P. 16-S.S.P. Jaipur City Dn.
Licensed to Post
Without Pre-Payment

If undelivered please return to :
प्रबन्ध-संपादक, आत्मधर्म
ए-४, टोडरमल स्मारक भवन, बापूनगर
जयपुर ३०२००४